ओ३म्

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

सितम्बर २०१८ Date of Printing = 05-09-18
प्रकाशन दिनांक= 05-09-18

वर्ष ४७ : अङ्क ११
दयानन्दाब्द : १९४
विक्रम-संवत् : भाद्रपद-आश्विन २०७५
सृष्टि-संवत् : १,९६,०८,५३,११९

संस्थापक : **स्व० ला० दीपचन्द आर्य**
प्रकाशक व सम्पादक : धर्मपाल आर्य
सह सम्पादक : ओम प्रकाश शास्त्री
व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :

दयानन्दसन्देश (मासिक)

४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस,
खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष : २३९८५५४५, ४३७८११९१
चलभाष : ९६५०५२२७७८
E-mail : aspt.india@gmail.com

एक प्रति ५.०० रु०
वार्षिक शुल्क ५०) रुपये
आजीवन सदस्यता ५००) रुपये
विदेश में २०००) रुपये

इस अंक में

- ब्रह्म के अर्थ २
- वेदोपदेश ३
- योगेश्वर श्रीकृष्ण ५
- शब्द प्रमाण-२ ७
- इतिहासकार की कलाकारी-३ ११
- मुंशी प्रेमचंद..... १५
- गीता आर्यसमाजी..... २१
- देश को आजाद..... २५

विशेष : दयानन्द सन्देश में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की पूर्णतया सहमति आवश्यक नहीं है। अतः किसी भी चर्चा/परिचर्चा एवं वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे।

सत्यार्थप्रकाश

प्रचार संस्करण ३००० रुपये सैकड़ा
स्पेशल (सजिल्द) ५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

ब्रह्म के अर्थ

(उत्तरा नेरूर्कर, बंगलौर, मो.- 09845058310)

प्राचीन ग्रन्थों में परमात्मा और जीवात्मा को प्रायः **'आत्मा'** शब्द से ही कहा जाता है। दर्शन शास्त्रों, उपनिषदों, आदि, में यही प्रथा पाई जाती है। इससे अनेक बार संशय हो जाता है कि यहाँ परमात्मा विषय है अथवा जीवात्मा अथवा दोनों। इन दोनों के गुण भी कुछ-कुछ मिलते हैं। इसलिए यह सन्देह और भी प्रगाढ़ हो जाता है। तब हम अपने ज्ञानानुसार पहला या दूसरा अर्थ कर देते हैं। फिर हम पाते हैं कि कई बार एक श्लोक/वचन एक की चर्चा कर रहा है, परन्तु अगला दूसरे की और फिर तीसरा पहले की। इस प्रकार प्रसंग थोड़ा अटपटा हो जाता है। इस लेख में मैंने ऐसा एक शब्द दर्शाया है जो कि दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु हम उसे एक ही अर्थ में लेने का आग्रह करते हैं।

प्रायः जहाँ भी **'ब्रह्म'** शब्द आता है, विशेषकर उपनिषदों में, हम बिना सोचे उसका एक ही अर्थ कर देते हैं- **परमात्मा**। यह जीवात्मापरक भी हो सकता है, यह सोच हमारे मानस पटल पर आती ही नहीं। प्रायः सभी उपनिषद् के व्याख्याकारों ने भी इसी प्रकार अर्थ किए हैं। परन्तु इसमें कई बार कठिनाईयाँ खड़ी हो जाती हैं, क्योंकि सन्दर्भ में वह अर्थ सम्यक् नहीं बैठता। फिर भी दूसरा अर्थ सोचने में कठिनाई उत्पन्न होने के कारण, हम कठिनाई को किसी प्रकार अनदेखी करके आगे बढ़ जाते हैं। विरले ही व्याख्याकार हैं, जिन्होंने **'ब्रह्म'** का अर्थ जीवात्मा किया हो। उनमें से एक हैं विद्यामार्तण्ड डॉ0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, जिन्होंने ११ उपनिषदों का भाष्य किया है। आगे हम कुछ ऐसे स्थल देखते हैं, जहाँ ब्रह्म के अर्थ जीवात्मा करने पर सारी गाँठें खुल जाती हैं।

जबकि इस विषय में सन्देह मुझे अनेक बार हुआ, परन्तु बृहदारण्यकोपनिषत् में इसे स्पष्टतर रूप से कहा गया है। पहले हम उसी के कुछ उदाहरण देखते हैं। इनमें प्रथम देखिए-

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयः तेजोमयोऽतेजोमयः काममयो ऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।। बृहदारण्यकोपनिषत् ४/४/५।।

अर्थात् निश्चय ही, वह यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, सर्वमय, इस लोक से सम्बद्ध और उस लोक से सम्बद्ध है। जैसा करता है, जैसा आचरण करता है, वैसा ही हो जाता है- जो भला करता है, तो भला हो जाता है, जो पाप करता है, तो पापी हो जाता है; पुण्य कर्मों से उसका पुण्य होता है, पाप से पाप होता है। इसलिए कहा गया है कि पुरुष काममय है। जैसे उसकी कामना होती है, वैसी उसकी कर्म की चेष्टा, संकल्प होता है;

शेष पृष्ठ ८ पर

ओ३म्

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानन्द

वेदोपदेश परमेश्वर सत्यव्रतों का पालक है। अतः इसकी प्रजा मनुष्य भी सत्यव्रतों के पालक बने। इस मन्त्र में महर्षि के भाष्य सत्य सच्चा स्वरूप समझा जा सकता है।

परमेष्ठी प्रजापतिः ऋषिः। अग्निः ईश्वरः देवता। आर्ची-त्रिष्टुपछन्दः। धैवतः स्वरः।। किंच तद्वाचो व्रतमित्युपदिश्यते।।

उस वाणी का व्रत क्या है, यह उपदेश किया है।

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।। १.५।।

पदार्थः **(अग्ने)** हे सत्योपदेशकेश्वर! **(व्रतपते)** व्रतानां = सत्यभाषणादीनां पतिः = पालक-स्तत्सम्बुद्धौ **(व्रतम्)** सत्यभाषणं सत्यकरणं सत्यमानं च **(चरिष्यामि)** अनुष्ठास्यामि **(तत्)** व्रतमनुष्ठातुम **(शकेयम)** यथा समर्थो भवेयम् **(तत्)** तस्यानुष्ठानम् पूर्तिश्च **(मे)** मम **(राध्यताम्)** संसेध्यताम्। **(इदम्)** प्रत्यक्षमाचरितुं सत्यं व्रतम् **(अहम्)** धर्मादिपदार्थ-चतुष्टयं चिकीषुर्मनुष्यः **(अनृतात्)** न विद्यते ऋतं = यथार्थ माचरणँ यस्मिन् तस्मान् मिथ्या भाषणान् मिथ्या करणान् मिथ्याकरणात्पृथक् भूत्वा **(सत्यम्)** यद्वेदविद्यया प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः सृष्टिक्रमेण विदुषां सङ्गेन सुविचारेणात्म शुद्धया वां निर्भ्रमं सर्वहितं तत्वनिष्ठं सत्प्रभवं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत् सत्यं कस्मात् सत्सुतायते सत्प्रभवं भवतीति वा (निरुक्त ३/१३) अयं मन्त्रः श. १/१/१/२-४ व्याख्यातः।।

सपदार्थान्वयः हे व्रतपते! व्रतानां सत्यभाषणादिनां पतिः पालकस्तत्सम्बुद्धै (अग्ने) सत्यधर्मोपदेशकेश्वर! अहं धर्मादि पदार्थचतुष्टयं प्राप्तुं चिकीर्षुर्मनुष्यो यद् इदं (व्रतम्) प्रत्यक्षमाचरितुं सत्यंव्रतम् (अनृतात्) न विद्यते ऋतं = यथार्थमाचरणं यस्मिन् तस्मान् मिथ्याचरणाम् मिथ्यामानात् (पृथक् भूत्वा) पृथक् वर्तमानं (सत्यम्) यद् वेदविद्यया प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः, सृष्टिक्रमेण विदुषँ सङ्गेन सुविचारेणाऽऽतम्शुद्धया वा निर्भ्रमं सर्वहितं तत्वनिष्ठं सत्प्रभं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तद् व्रतं सत्यभाषणं सत्यकरणं सत्यमानं च (चरिष्यामि) अनुष्ठास्यामि (तत्) तस्यानुष्ठानं पूर्तिश्च (मे) मम भवता स्वकृपया (राध्यताम्) संसेध्यताम् यद् (उपैमि) प्राप्नोमि ज्ञातुं प्राप्तुम् अनुष्ठानात् प्राप्नोमि, यच्चाऽनुष्ठातुं (शकेयम्) यथा समर्थो भवेयम् तदपि सर्वं (राध्यताम्) संसेध्यताम्।

भाषार्थ : हे **(व्रतपते)** सत्यभाषणादि व्रतों के पालक **(अग्ने)** सत्यधर्म के उपदेशक ईश्वर!

(अहम्) धर्म, अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा वाला मैं जो **(इदम्)** इस सत्यव्रत को **(अनृतात्)** मिथ्या भाषण, मिथ्या आचरण, मिथ्या बात को मानने से अलग होकर **(सत्यम्)** जो वेद-विद्या प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों, सृष्टिक्रम, विद्वानों का संग, श्रेष्ठ विचार और आत्मशुद्धि के द्वारा जो भ्रान्ति से रहित, सबका हितकारक, तत्वनिष्ठ, सत्प्रभव और जो अच्छी प्रकार परीक्षा करके निश्चय किया जाता है, जो **(व्रतम्)** सत्यभाषण, सत्याचरण, सत्य मानना रूप व्रत है, उसका **(चरिष्यामि)** पालन करूँगा **(तत् मे)** मेरे उस व्रत का अनुष्ठान और पूरा करना, आपकी कृपा से **(साध्यताम्)** सिद्ध हो। जिसे **(उपैमि)** मैं जानने, प्राप्त करने और आचरण में लाने के लिए **(शमेयम्)** समर्थ होऊँ। **(तत्)** वह व्रत भी सब आपकी कृपा से **(राध्यताम्)** सिद्ध होवे।।

भावार्थः ईश्वरेण सर्वमनुष्यैरनुष्ठेयोऽयं धर्म उपदिश्यते, यो न्यायः पक्षपातरहितः, सुपरीक्षितः, सत्यलक्षणान्वितः, सर्वहिताय वर्तमान, ऐहिक पारिमार्थिकसुखहेतुरस्ति, स एव धर्मः सर्वमनुष्यैः सदाचरणीयः यश्चैतस्माद् बिरुद्धो ह्यधर्मः स नैव केनापि कदाचिदनुष्ठेयः। स एवं हि सर्वैः प्रतिज्ञा कार्या।

हे परमेश्वर! वयं वेदेषु भवदुपदिष्टमिमं सत्यधर्मम् आचरितुमिच्छामः। येयमस्माकमिच्छा सा भवत्कृपया सम्यक् सिध्येत्।

यतो वयमर्थ-काम-मोक्ष फलानि प्राप्तुं शक्नुयाम यथा चाधर्मं सर्वथा त्यक्त्वाऽनर्थकुमामन्बन्ध -दुःखफलानि पापानि त्यक्तुं त्याजयितुं यथाशक्ति सत्यव्रतपालका भवेम।

एवं सदैव धर्म चिकीर्षवः सत्क्रियावन्तो भूत्वा सर्वसुखोपेताः सर्वप्राणिनां सुखकारकाश्च भवेमेति सर्वैः सदैवेष्टितव्यम्।।

भावार्थ : ईश्वर सब मनुष्यों के पालन करने योग्य धर्म का उपदेश करता है - जो न्याय, पक्षपातरहित, सुपरिक्षित, सत्य लक्षणों से युक्त, सर्वहितकारी, इस लोक और परलोक के सुख का हेतु है, वही धर्म सब मनुष्यों के सदा आचरण करने योग्य है। जो इससे विरुद्ध अधर्म है, उसका आचरण कभी किसी को नहीं करना चाहिए। इस प्रकार सब प्रतिज्ञा करें -

हे परमेश्वर! हम वेदों में आपसे उपदिष्ट सत्य धर्म का आचरण करना चाहते हैं। यह हमारी इच्छा आपकी कृपा से अच्छी प्रकार सिद्ध होवे।

जिससे हम अर्थ-काम-मोक्षरूप फलों को प्राप्त कर सकें और जिससे अधर्म को सर्वथा छोड़ कर अनर्थ, कुकाम, दुःख फल वाले पापों को छोड़ने और छुड़ाने में समर्थ होवें।

जैसे आप सत्यव्रतों के पालक होने से व्रतपति हैं, वैसे ही हम भी आपकी कृपा से, अपने पुरुषार्थ से यथाशक्ति सत्यव्रत के पालक बनें। इस प्रकार सदा धर्म करने के इच्छुक शुभकर्म करने वाले होकर सब सुखों से युक्त और सब प्राणियों को सुख देने वाले बनें। ऐसी इच्छा सब सदा किया करें।

(''दयानन्द-यजुर्वेद-भाष्य-भास्कर'' से उद्धृत, व्याख्याता स्व० श्री पं० आचार्य सुदर्शनदेव)

❑❑

योगेश्वर श्रीकृष्ण

(धर्मपाल आर्य)

श्रीराम व श्रीकृष्ण का चरित्र आध्यात्मिक, नैतिक, राजनीति, बौद्धिक तथा मानवीय गुणों से ओत-प्रोत है। दोनों के जीवन धीरता, वीरता और गम्भीरता को अपने अन्दर समेटे हुए हैं। एक (श्रीराम) यदि अपनी चारित्रिक उच्चता के कारण दुनियां में मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से ख्याति प्राप्त हैं, तो दूसरे (श्रीकृष्ण) अपनी चारित्रिक उदात्तता के के कारण योगिराज के रूप में जाने जाते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम व योगिराज श्री कृष्ण दोनों ही महापुरुष भारत की वैदिक संस्कृति के उच्चादर्शों का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। वैसे तो उपर्युक्त दोनों ही महापुरुषों के पौराणिक स्वरूप से आर्यसमाज का व्यापक मतभेद था और है। लेकिन श्रीकृष्ण जी महाराज का जीवन जिस तरह पौराणिक विडम्बनाओं से घिरा हुआ है, उनसे व्यापक मतभेद होने के साथ-साथ विरोध भी है। आर्यसमाज श्रीकृष्ण के जीवन के हर उस पहलू से अपनी असहमति रखता है, जो सत्य पर आधारित न होकर केवल पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित है। मुझे यह लिखने में लेशमात्र भी संकोच नहीं कि यह देश का बड़ा दुर्भाग्य है कि कृष्ण के कपोलकल्पित और उसके विकृत रूप को तो घर-घर में जोर-शोर से प्रचारित- प्रसारित किया जा रहा है और जो महाभारत वर्णित सही रूप है, जो राष्ट्र के लिए अक्षय प्रेरणा का स्रोत बन सकता है, उसकी चर्चा दुर्लभ हो रही है। श्रीकृष्ण के विराट व्यक्तित्व के साथ इससे बड़ा अन्याय और विश्वासघात नहीं हो सकता।

श्रीकृष्ण जी का राजनीतिक कौशल, आध्यात्मिक दृढ़ता, नीतिनिपुणता, वाक्चातुर्य, सफल पार्थ-सारथित्व, सफल दौत्यकर्म, काल के भाल पर अंकित अमिट गीतोपदेश एवं प्रत्येक अवस्था में उनकी अनुकरणीय धीरता-वीरता, व्यवहारपटुता, अगाध वैदुष्य, आत्मिक-बल, मनोबल और तपोबल इत्यादि गुण पौराणिक रासलीलाओं में, प्रेम प्रसंगों में और सोलह हजार रानियों के प्रकरण में बुरी तरह से बिना कफन के ही दफन हो गये हैं।

प्रबुद्ध पाठक गण! मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि श्रीकृष्ण जी के जीवन की जिस पवित्रता और उच्चता को अंग्रेजों और मुगलों की गुलामी नहीं मिटा पाई, उसे पौराणिक, कपोलकल्पित कथाएँ तथा उसके अनुसार मञ्चित लीलाएँ समूल नष्ट करने का प्रयास कर रही हैं। पौराणिक पोंगापन्थियों ने पाण्डवों की विजयश्री की पटकथा के सूत्रधार व महानायक श्रीकृष्ण जी के जीवन-चरित्र की पावनता और महत्ता को दरकिनार कर जिस प्रकार मनोरंजन के उद्देश्य से मात्र रासलीलाओं तक समेटने का काम किया, उससे श्रीकृष्ण योगिराज भोग विलास के, भोग विलासियों के केन्द्र बन गये। मैं समझता हूँ कि हमारे देश के इतिहास की बहुत सी त्रासदियाँ हैं, जिनमें से एक वासुदेव के जीवन की गलत मनगढ़न्त तथा असंख्य दोषों से पूर्ण, केवल और केवल श्रृंङ्गार रस प्रधान झांकी भी है।

पुराणों के श्रीकृष्ण, सूरदास के श्रीकृष्ण, रसखान के श्रीकृष्ण तथा मीराबाई के श्रीकृष्ण गोपियों के चीर

चुरा रहे हैं; माखन चुरा रहे हैं या फिर राधा के संग रासलीला कर रहे हैं। विचारकों ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को द्वादश (बारह) कलाओं वाला और श्रीकृष्ण को सोलह कलाओं वाला माना है। इसका अभिप्राय एक को दूसरे से बड़ा व छोटा कहना नहीं, अपितु राम सूर्यवंशी थे और सूर्य की गति ज्योतिष के हिसाब से बारह राशियों के अन्दर होती है इसीलिए पौराणिक जगत् ने राम को द्वादश कलावतार के रूप में सम्बोधित किया और श्रीकृष्ण चन्द्रवंशी थे और चन्द्रमा की कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष तक सोलह कलाएं मानी जाती हैं इसीलिए पौराणिक मतानुसार उन (श्रीकृष्ण) को सोलह कलावतार माना जाता है। समान रूप से महान् व्यक्तित्व के धनी होने के बाद भी श्रीराम और श्रीकृष्ण की सामयिक परिस्थितियों में काफी विषमताएं थीं। दोनों ने ही अपने-अपने तरीके से चुनौतियों पर विजय हासिल की। श्रीकृष्ण और भीष्मपितामह महाभारत के दो महत्वपूर्ण पात्र हैं, दोनों बल में, विद्या में, बुद्धि में, तेज में, ओज में, शस्त्र और शास्त्र ज्ञान में, धीरता में, वीरता में और गम्भीरता में यद्यपि परिपूर्ण हैं पुनरपि निर्णय लेने की क्षमता में दोनों ही बिल्कुल अलग हैं। एक (भीष्मपितामह) की निष्ठा यदि राज-सिंहासन और राजा के प्रति है, तो दूसरे (श्रीकृष्ण) की पूर्ण निष्ठा राज (राष्ट्र) के प्रति है। भीष्मपितामह के लिए राजा राजसिंहासन ही सब कुछ तो श्रीकृष्ण के लिए राष्ट्र ही सब कुछ है। स्पष्ट है कि भीष्मपितामह कहीं न कहीं राजशाही अथवा अधिनायकवादी परम्परा का और श्रीकृष्ण विशुद्ध लोकतन्त्रात्मक परम्परा का संरक्षण व समर्थन करते दिखाई देते हैं। मैं इसे आर्यजाति का दुर्भाग्य कहूँ अथवा पवित्र भारतीय संस्कृति की विडम्बना कि इसी मत वैभिन्य के कारण दोनों ही अलग-अलग पक्ष में खड़े थे। भीष्मपितामह कौरव पक्ष की अगवाई कर रहे थे, तो श्रीकृष्ण पाण्डव पक्ष के योद्धा अर्जुन के सारथि बने हुए थे। सहज ही प्रश्न उठता है कि राष्ट्रहित में कौन सी नीति है भीष्म-पितामह की राजा अथवा राजसिंहासन के प्रति निष्ठा की नीति अथवा योगेश्वर श्रीकृष्ण की राष्ट्र के प्रति निष्ठा की नीति? मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर निम्न श्लोक से पूर्णतया मिल जाएगा-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।

अर्थात् योगेश्वर श्रीकृष्ण व धनुर्धर पार्थ जिधर हैं, वहीं लक्ष्मी है, वहीं विजय है और वहीं राष्ट्र व समाज की नीति है, ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि योगेश्वर श्रीकृष्ण की राष्ट्र-नीति ही राष्ट्रहित में है। श्रीकृष्ण जी के स्वप्न विराट थे, उनका कर्त्तव्य भी विराट था तथा स्वप्नपूर्ति भी विराट थी। संसार का इतिहास असफल स्वप्नद्रष्टाओं के स्वप्नभंगों की कहानियों से भरा पड़ा है किन्तु श्रीकृष्ण और श्रीराम इतने विराट् व्यक्तित्व के धनी हैं, जिनका स्वप्न-साफल्य संसार के इतिहास में ज्योति-स्तम्भ बनकर खड़ा है। श्रीराम ने यदि मिथिला से लेकर रावण की लंका तक अर्थात् उत्तर से लेकर दक्षिण तक सारे भारत को एकता के सूत्र में बांधा था, तो श्रीकृष्ण ने द्वारिका से लेकर मणिपुर अर्थात् पश्चिम से लेकर पूर्व तक समस्त आर्यावर्त्त को न केवल एकता के सूत्र में आबद्ध किया, अपितु एक दृढ़ केन्द्र के अधीन करके समस्त राष्ट्र को इतना बलवान और इतना अपराजेय बना दिया था कि महाभारत के पश्चात् लगभग चार हजार

वर्ष तक अनेक विदेशी शक्तियों द्वारा बार-बार प्रयत्न किए जाने पर भी आर्यावर्त को खण्डित नहीं किया जा सका। ये सब श्रीकृष्ण के विराट् व्यक्तित्व के ही परिणामस्वरूप था, जिसे पौराणिक जगत् ने श्रृङ्गार रस प्रधान रासलीलाओं तक समेट कर रख दिया।

आर्यजगत् अपने इस महापुरुष को योगिराज श्रीकृष्ण के रूप में मानते हुए राष्ट्रोत्थान में दिये उनके योगदान को अत्यन्त कृतज्ञता के साथ याद करता है। इस महापुरुष के व्यक्तित्व को निम्नलिखित मन्त्र अच्छी तरह परिभाषित करता दिखाई देता है-

"यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सहः।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना"।।

अर्थात् जहाँ क्षत्रविद्या और शास्त्रविद्या साथ-साथ चलती हैं, वह राष्ट्र पुण्य को, प्रज्ञा को और विद्वानों को प्राप्त करता है। श्रीकृष्ण शस्त्र अैर शास्त्र दोनों ही विद्याओं के विशेषज्ञ थे। युद्धभूमि में अर्जुन को गीता का उपदेश उनके शास्त्र ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि शिशुपाल वध, कंस वध, जरासन्ध और जयद्रथ वध उनके क्षात्रधर्म के कौशल को दर्शता है। श्रीकृष्ण का इससे बड़ा आत्मिक बल व राजनीतिक कौशल और क्या हो सकता है कि जब आप (श्रीकृष्ण) दौत्य कर्म के समापन पर कर्ण से मिलते हैं, तो अपनी आत्मीयता दिखाते हुए उसे पाण्डवों से मिलने का प्रस्ताव देते हैं और युद्ध के मैदान में वही श्रीकृष्ण उसी कर्ण को खरी-खरी सुनाते हुए उसे शर्मसार करते हैं। श्रीकृष्ण का पौराणिक चरित्र न केवल उनके व्यक्तित्व को बौना बनाता है,अपितु उनके कीर्तिकेतु को भी कलंकित करता है। प्रायः जितने भी श्रीकृष्ण से सम्बन्धित पौराणिकों के आयोजन होते हैं, उनमें केवल गोपियों का और राधा का ही प्रसंग मुख्य रूप से दिखाया जाता है। उनकी वास्तविक पत्नी रुक्मिणी को या तो दिखाया ही नहीं जाता है और यदि दिखाया भी जाता है, तो केवल नाममात्र के लिए ही एक झलकमात्र दिखलाई जाती है।

महर्षि दयानन्द के श्रीकृष्ण निष्कलंक हैं, विराट् व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके श्रीकृष्ण आप्त पुरुषों के समान हैं और सद्गुणों से ओत-प्रोत हैं, तभी तो उन्हें अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखना पड़ा कि देखो! **श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा और उस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाए हैं। दूध दही मक्खन आदि की चोरी; और कुब्जा दासी से समागम, परस्त्रियों से रासमण्डल क्रीड़ाएं आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्ण जी में लगाए हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुना के अन्य मतवाले श्रीकृष्ण जी की बहुत सी निन्दा करते हैं।** आर्यसमाज के श्रीकृष्ण वही हैं, जो महाभारत के हैं।

देश में श्रीकृष्ण जी का जन्मोत्सव, जिसे हम जन्माष्टमी के रूप में मनाते हैं उसे सही अर्थों में मनाना ही युवाओं के हित में है, बच्चों के हित में है, भक्ति के हित में है, शक्ति के हित में है, वर्तमान के हित में है, भविष्य के हित में है, राष्ट्र के हित में है, राजनीति के हित में है, राजा के हित में है, प्रजा के हित में है, सत्य के हित में है, संस्कृति के हित में है, धर्म के हित में है और सत्कर्म (यज्ञादि) के हित में है; इसमें कोई सन्देह नहीं।

❑❑

पृष्ठ २ का शेष

जैसा संकल्प होता है, वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है।

यह वर्णन स्पष्टतः जीवात्मा के विषय में है। इसलिए कोई भी व्याख्याकार यहाँ पर **'परमात्मा'** अर्थ नहीं कर सका। तथापि आरम्भ में ही उसको **'ब्रह्म'** कहा गया है। ब्रह्म को जीवात्मा न मानने के कारण, अधिकतर व्याख्याकारों ने यहाँ अर्थ किया है **'ब्रह्मवेत्ता'**, परमात्मा को जानने वाला। परन्तु आगे के वर्णन में तो सामान्य जीवात्मा की बात हुई है, जो पाप भी करती है और पुण्य भी, जबकि ब्रह्म को जानने वाला तो जीवन्मुक्त आत्मा होती है, मोक्ष की भागी होती है। यहाँ पर सत्यव्रत जी ने **ब्रह्म** का अर्थ किया है- बड़ा, सर्वश्रेष्ठ- और फिर क्योंकि ये विशेषण पुनः जीवन्मुक्त के लिए ही होते हैं, सो उन्होंने भी कोष्ठक में लिखा- (ब्रह्म के अधिक निकट)। तथापि मुख्य व्याख्या में उन्होंने जीवात्मा को **'आत्म-ब्रह्म'** के नाम से पुकारा है। तो कोष्ठक के वर्णन को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं "प्रकृति की तुलना में, जीवात्मा परमात्मा से अधिक निकट होता है"। अर्थात् अन्य मनुष्यों की तुलना में परमात्मा से अधिक निकट नहीं, अपितु प्रकृति की तुलना में।

अगली कण्डिका और भी सुस्पष्ट है-

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामायमानोऽथाकामायमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्यप्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।। बृहद०४/४/६।।

अर्थात्- उपर्युक्त विषय में किसी अन्य ऋषि का प्रमाण है- जहाँ भी उसका सूक्ष्म मन आसक्त होता है, उस में ही वह (आत्मा) कर्म के साथ लग जाता है। उस कर्म का अन्त (फल) पाता हुआ, वह जो कुछ इस लोक में करता है, वह उस कर्म को भोगने के लिए पुनः उस लोक से आता है (लौटता है)। यह है कामना करने वाले की गति। अब कामना न करने वाले की गति कहते हैं। जो बिना कामना के होता है, निष्काम होता है, जिसके सभी काम पूर्ण हो गए होते हैं, जो आत्मा को प्राप्त करने की कामना करता है, उसके प्राण निकलते नहीं हैं (वह जीवन्मुक्त हो जाता है)। वह ब्रह्म होकर, ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है।

यहाँ यदि हम **"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"** में **'ब्रह्म'** को दोनों स्थानों पर परमात्मा-अर्थक मानेंगे, तो शांकर अद्वैतवाद में फंस जायेंगे। इसलिए पहले ब्रह्म को जीवात्मा और दूसरे को परमात्मा मानना ही अर्थ-संगत है। ऐसा न मान सकने पर, अधिकतर भाष्यकारों ने पहले **'ब्रह्म'** का अर्थ पुनः 'ब्रह्मवेत्ता' अथवा 'ब्रह्म में लीन' किया है। परन्तु उपनिषत्कार 'ब्रह्मवित्त' शब्द से परिचित थे। सो, यहाँ 'ब्रह्म हो गया' कहने से कुछ विशेष अर्थ तो नही है? कुछ और उद्धरण देखकर इस पर चर्चा करेंगे।

अगली कण्डिका कहती है-

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदँ शरीरँ शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव...।। बृहदारण्कोपनिषत् ४/४/६।।

अर्थात्- यहाँ एक और प्रमाण है- जब हमारे मन में स्थित सभी काम छूट जाते हैं, तब मर्त्य (मनुष्य) अमृत हो जाता है। यहाँ (इस शरीर में ही) **ब्रह्म** को पा लेता है। जिस प्रकार साँप की निर्जीव केंचुली दीमक की बांबी पर फेंकी हुई पड़ी होती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा होता है (जीवन्मुक्त आत्मा का) और यह (जीवन्मुक्त आत्मा) अशरीरी हो जाता है, अमृत, प्राण

और ब्रह्म ही हो जाता है, तेजस्वरूप ही हो जाता है।

पुनः यहाँ हम वही दुविधाएं देखते हैं, जो ऊपर की कण्डिका में थी- "ब्रह्म हो जाता है" का क्या अर्थ है?

इसी प्रकार अन्य प्रकरण भी इसी उपनिषद् में पाए जाते हैं, जहाँ ब्रह्म के परमात्मा को छोड़कर अन्य भी अर्थ हैं। इनमें से कुछ मैं नीचे दे रही हूँ-

... वाग्वै सम्राट परमं ब्रह्म...।। बृहद्0 ४/१/२।।- याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं- निश्चय ही सम्राट! वाणी परम ब्रह्म है। इसी विभाग में आगे की कण्डिकाओं में याज्ञवल्क्य उपर्युक्त प्रकार से क्रमशः प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय को भी ब्रह्म कहते हैं। सभी स्थानों में **ब्रह्म** का अर्थ 'महान्' वा 'अतिश्रेष्ठ' है, परमात्मा नहीं।

... एवं हैवंविदँ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति।। बृहद्0 ४/३/३७।।- इसी प्रकार, निश्चय से, इस प्रकार से (ब्रह्म को) जानने वाले को सब प्राणी कहते हैं, "यह ब्रह्म आ रहा है, यह जा रहा है।"

... स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।। बृहदारण्यकोपनिषत् ४/४/२५।।

वह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत, अभय और ब्रह्म है। ब्रह्म अभय है। निश्चय ही जो ऐसे जानता है, वह भी ब्रह्म हो जाता है। यहाँ ब्रह्म-पद जीवात्मापरक है।

अन्य भी उदाहरण इस और अन्य उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। यहाँ मैंने कुछ अति स्पष्ट उद्धरण दे दिए हैं। अब इन पर चर्चा करते हैं।

'ब्रह्म' शब्द 'बृहि वृद्धौ' धातु से ''बृंहतेर्नोऽच्च (उणादि0 ४/१४६)" से मनिन् प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता है, जिसकी व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं- **बृंहति वर्धते तत् ब्रह्म ईश्वरो वेदस्तत्त्वं तपो वा-** अर्थात् जो बड़ा हो, बढ़ता हो, इसलिए ईश्वर, वेद, तत्त्व और तप इसके अर्थ होते हैं। यह तो सर्वमान्य है कि जितने अर्थ शास्त्रों में दिए हैं, उससे अधिक भी अर्थ शब्दों के पाए जाते हैं। **ब्रह्म** भी ऐसा एक शब्द है। उपर्युक्त बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में जो वाक् आदि को ब्रह्म उपाधि दी गई है, वह स्पष्टतया उनके महत्व के कारण है। तब यही अर्थ जीवात्मा के लिए लेने में क्या संकोच है?

वस्तुतः, प्रकृति की तुलना में जीवात्मा इतना महान् है, कि यदि हम प्राकृतिक प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय को ब्रह्म कह सकते हैं, तो जीवात्मा तो कहीं अधिक बड़ा, महान् व शक्तिशाली है। इसी कारण से जीवात्मा का ब्रह्म अभिधेय उपयुक्त है। परन्तु प्रकृति के योग में वह प्रकृति की शक्तियों से बन्ध जाता है; उसके स्वयं के सामर्थ्य सीमित अथवा ढक जाते हैं। इसको समझने के लिए एक केंचुए को देखिए- उसकी न तो आँखें हैं, न नाक, न कान। तो इस शरीर में आत्मा की कई शक्तियाँ आच्छादित हो गई हैं। इसी प्रकार मनुष्य शरीर में भी, जो कि अन्य जातियों के शरीरों के कहीं अधिक सामर्थ्यवान् है, आत्मा की अनेकों शक्तियाँ दबी हुई हैं। जब वह इस प्राकृतिक बन्धन से छुटकारा पाता है, तब वह **'ब्रह्म'** हो जाता है, अपनी पूर्ण महानता को प्राप्त करता है। इस स्थिति में वह परमात्मा को देखने में भी समर्थ हो जाता है। उपनिषद् का वाक्य- **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति-** ब्रह्म हो कर ब्रह्म को पा लेता है- इसी बात को पुनः-पुनः हमें समझाने का प्रयत्न कर रहा है।

इसमें संशय न करते हुए, प्रकरणानुसार जीवात्मा का ग्रहण करके सही अर्थ करने चाहिए। अर्थ कैसे विकृत हो जाते हैं, इसके लिए निम्न उदाहरण है। वृहदारण्यक् के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में जीवात्मा

वर्णित है। परन्तु चौदहवीं कण्डिका से ब्रह्म का ग्रहण कर लिया जाता है। इस प्रसंग में यह वचन आता है-

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय...।। बृहदारण्यकोपनिषत् ४/४/२२।।

अर्थात्- निश्चय ही, वह यह महान् व अजन्मा आत्मा जो कि विज्ञानमय, प्राणों में विराजमान है, जो हृदय (बुद्धि) के अन्दर के आकाश में स्थित है, जो सबको वश में करने वाला है, सबका ईश्वर है, सबका अधिपति है, वह साधु (अच्छे=पुण्यात्मक) कर्म से बड़ा नहीं होता, और असाधु (नीच=पापात्मक) कर्म से छोटा नहीं होता; सह सर्वोश्वर है, भूतों का अधिपति है, भूतों का पालन करने वाला है, यह लोकों को छिन्न-भिन्न न होने देने के लिए सेतु और विशेष धारण करने वाला है।

यहाँ सभी विशेषण परमात्मा पर ही घटते हैं, परन्तु एक बात अटपटी लगती है- वह अच्छे कर्म से बड़ा नहीं होता और बुरे से छोटा नहीं होता- परमात्मा क्या कभी बुरा कर्म कर सकता है कि याज्ञवल्क्य ने ऐसा कहा?! नहीं, यह प्रकरण जीवात्मा के विषय में ही यहाँ पर पर भी प्रवर्तित हो रहा है। तब फिर हम अन्य विशेषणों को कैसे समझें? सो, जीवात्मा के प्रसंग में अर्थ इस प्रकार है- वह यह महान् अजन्मा आत्मा शरीर के प्राणों में विज्ञान (चैतन्य, consciousness) उत्पन्न करता है। वह मस्तिष्क के अन्दर एक छोटे प्रदेश में आश्रय लेता है। वह सम्पूर्ण शरीर को वश में रखता है, उसके ऊपर ईषण करता है, उसका अधिपति है (भूतों से केवल शरीरस्थ भूत उद्दिष्ट हैं, ब्रह्माण्ड-भर के नहीं।)। वह अच्छे कर्म या बुरे कर्म से प्रभावित नहीं होता (सुख-दुःख केवल शरीर तक सीमित होते हैं, आत्मा को नहीं छूते)। शरीर में स्थित सभी भूतों- प्राकृतिक तत्त्वों- का ईश्वर, अधिपति, पालने हारा है। वह शरीर में स्थित भौतिक लोकों = अवयव, जैसे फेफड़े, आमाशय, को छिन्न-भिन्न नहीं होने के लिए, सेतु का काम करता है और विशेष रूप से शरीर को धारण करता है (इसीलिए तो मृत्यु होने पर, जीवात्मा के शरीर त्याग देने पर, शरीर सड़ने लगता है)।

इस प्रकार अनेकों विशेषणों के हमको प्रसंगानुसार अर्थ करने पड़े, जो विशेषण प्रथमदृष्टया परमात्मा के लगते हैं। यही मेरे उपर्युक्त कथन का अर्थ था कि परमात्मा और जीवात्मा में 'आत्मा' शब्द ही नहीं, अपितु अनेकों समानताएं हैं। जहाँ परमात्मा सम्पूर्ण विश्व को धारण करता है, वहीं जीवात्मा अपने शरीर को धारण करता है। जहाँ परमात्मा ब्रह्माण्ड में परिणाम लाता है, वहीं जीव अपने आसपास के भूतों को अपने अनुसार बदलने में समर्थ होता है। जीव को इतना छोटा भी नहीं समझना चाहिए, जैसे कि वह स्वयं कुछ प्राप्त ही नहीं कर सकता। परमात्मा ने उसमें अनेकों सामर्थ्य स्थापित किए हैं, जिनका प्रयोग करना जीवन को सफल करना है, और निष्कर्मण्यता में बिता देना, जीवन को व्यर्थ बिताना है।

प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ते, समझते हुए, हमें बहुत चिन्तन करके अर्थ करना चाहिए। **इतनी सदियाँ हमारे और उनके बीच में हैं कि बहुत अर्थ बदल गए हैं। ब्रह्म शब्द ही नहीं, आत्मा, भूत, योग, आदि कितने ही शब्द हैं, जो बहुत विस्तृत अर्थ वाले हुआ करते थे, परन्तु आज बहुत संकीर्ण हो गए हैं।** यदि हमें पुरातन ग्रन्थों से सही ज्ञान प्राप्त करना है, केवल अपने जाने हुए को आरोपित नहीं करना है, तो हमें फूंक-फूंक कर अर्थ करना पड़ेगा।

❑❑

इतिहासकार की कलाकारी (३)

(राजेशार्य आट्टा, मो0:-09991291318)

प्रिय पाठकवृन्द! मुस्लिम काल के अत्याचार के साक्षी बने मन्दिर (मन्दिरों के ऊपर बनी मस्जिदें) उस काल की कहानियों व ऐतिहासिक लेखन पर मोहर लगा रहे हैं, पर हमारे ही देश में हिन्दू नामधारी एक ऐसा भी विदेशी मजहब (कम्यूनिज्म) है, जिसके लोग गजनवी, तैमूर, औरंगजेब जैसे मुस्लिमों को अत्याचारी कहने पर परेशान हो जाते हैं और उन्हें उदार, दानी और सहनशील सिद्ध करने का भरसक प्रयास करते हैं। यदि इसके पीछे इन लोगों का यह विश्वास होता कि अतीत की भयंकर स्मृति से पीढ़ियों में कटुता का भाव बनता है अतः उसमें कुछ परिवर्तन कर लिखने से हिन्दू-मुस्लिम में परस्पर मित्रता का भाव बनेगा, तो बहुत अच्छा होता। पर जब ये ही लोग वर्तमान के हत्यारे (मुस्लिम) आतंकवादियों को निर्दोष सिद्ध करने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगाने लगे; जिस देश में रक्षण-पोषण पा रहे हैं, उसी की बर्बादी की शिक्षा देने लगे; भारतीय सैनिकों पर पत्थर मारने वाले नमक हरामों के मानवाधिकार की दुहाई देने लगे, तो इनकी मानसिकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। अतः हमें लगा कि महमूद गजनवी को उदार, औरंगजेब को दानी और हिन्दुओं को मन्दिर तोड़ने वाले प्रचारित करने वालों का भण्डाफोड़ होना ही चाहिए। क्योंकि गलत इतिहास लेखन मानवता के विरुद्ध किया जाने वाला अपराध है।

इतिहासकार असगर अली इञ्जीनियर ने अपने भाषण में डी.डी. कोसाम्बी को उद्धृत करते हुए आगे कहा- 'राजतरंगिनी' के स्रोत को उद्धृत करके कोसाम्बी ने लिखा है कि ग्यारहवीं सदीं में कश्मीर में एक राजा था, जिसका नाम राजा हर्ष (ए.डी. १०८६-११०१) था। उसने कश्मीर में बहुत सारे मन्दिरों को तोड़ा था। कितने भयंकर ढंग से उसने उन सबको तोड़ा था, उसका वर्णन पढ़ने से आप चौंक उठेंगे। (मूर्तियों के सोने से उसने अपना खजाना भरा)...। हिन्दू राजाओं ने भी हिन्दू मन्दिर तोड़े हैं- यह तथ्य हमें इतिहास में नहीं पढ़ाया जाता है।'

समीक्षा- सर्वप्रथम तो बात यह है कि जो काम बुरा है, उसे चाहे हिन्दू करे या मुस्लिम, वह बुरा ही रहेगा। फिर भी मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा मजहबी उन्माद में मन्दिर तोड़ने और कश्मीर के हिन्दू राजा हर्ष द्वारा अपना खजाना भरने के लिए मन्दिरों की मूर्तियाँ तोड़ने को समान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मुस्लिमों ने दूसरे धर्म के मन्दिरों का खजाना तो लूटा ही, उनकी मूर्तियों (पत्थर, तांबे आदि की) को मस्जिदों की सीढ़ियों में लगाया, ताकि हिन्दुओं को अपमानित किया जा सके। कई स्थानों पर तो मन्दिरों को मस्जिदों में ही बदल दिया गया। जबकि राजा हर्ष ने अपने ही धर्म के लोगों द्वारा दान दिये गये मन्दिरों के चढ़ावे को केवल धन के लोभ में लूटा था। नास्तिक लुटेरे मन्दिर मस्जिद सब लूटते थे।

भारत के हजारों वर्ष के इतिहास में मात्र कश्मीर का एक हिन्दू राजा मन्दिर लूटता मिला, जबकि महमूद बिन कासिम (७१२ ई0) से लेकर औरंगजेब तक शायद ही कोई मुस्लिम राजा मिले, जिसने मन्दिर न लूटे हों। फिर इनमें समानता कैसी?

यद्यपि 'राजतरंगिणी' में राजा हर्ष द्वारा मन्दिर लूटने का वर्णन है, जो उनके पतन की अवस्था को दर्शाता है, पर उससे सम्बन्धित १४०० पद्यों में कवि कल्हण ने यह भी लिखा है कि किशोरावस्था में हर्ष बड़ा गुणानुरागी और काव्यात्मक प्रवृत्ति वाला था। उसका

लोभी पिता कलश विद्वानों से द्वेष रखता था, पर हर्ष स्वयं भूखा रहकर अपना खर्च पण्डितों और कवियों को दे डालता था। राज्यारूढ़ होने पर उसने अपने विद्वत्प्रेम को चरितार्थ किया। प्रजा की प्रार्थना सुनने के लिए तो उसने अपने प्रासाद के चारों ओर बड़े- बड़े घण्टे लगवा दिये थे, जिनके बजते ही वह प्रार्थियों से मिलने स्वयं पहुँच जाता था। यहाँ तक कि कर्नाटक के राजा से विद्यापति की उपाधि पाने वाले कवि विल्हण भी हर्ष के काव्य और कला के प्रति अनुराग की कथा सुनकर उसके लिए स्पृहा करते थे। पर चाटुकारों से घिरकर राजा हर्ष विलासी और अत्याचारी हो गया। उसी पतनावस्था में उसने मन्दिर लूटे, जिसे इतिहासकार कह रहा है। महोदय! उपरोक्त वर्णन भी तो पाठ्यपुस्तकों में नहीं पढ़ाया। यदि कश्मीर के राजा हर्ष ने मन्दिर तुड़वाकर अपना खजाना भरा, तो उसे अच्छा कौन कहता है और हिन्दू उसके कार्य पर कब गर्व करते हैं? अपने कुकर्म के कारण वह तो उपेक्षा के गर्त में धकेला जा चुका है। उसकी हत्या होने पर किसी रानी व नौकर ने भी शोक के आँसू नहीं बहाये थे।

दूसरी बात, पूरे भारत में सैकड़ों वर्ष के इतिहास में मन्दिर लूटने वाला एक हिन्दू राजा मिल गया, तो सेकुलर इतिहासकार ढोल पीटने लगे और जिन्होंने सैकड़ों वर्ष हजारों मन्दिर लूटे व तोड़े, उनके विषय में ये देश को भ्रमित करते रहे कि अल्पसंख्यक मुस्लिम बहुसंख्यक हिन्दुओं के मन्दिर कैसे तोड़ सकते थे! अभी ७-८ वर्ष हुए, भारत की सरकार हिन्दुओं के विरुद्ध एक ऐसा ही काला कानून लाने की तैयारी में थी कि अल्पसंख्यक तो कभी कोई अपराध कर ही नहीं सकता। विपक्ष के विरोध के कारण वह लागू नहीं हो पाया। पर हिन्दू को आतंकवादी प्रचारित करने के लिए समझौता एक्सप्रेस ट्रेन में हुए बम विस्फोट में पाकिस्तानी आतंकवादी अजमत अली को छोड़कर स्वामी असीमानन्द को फंसा दिया। मालेगाँव बम विस्फोट में साध्वी प्रज्ञा को फँसाकर भयंकर यातनाएँ दीं। दूसरी तरफ पत्थरबाजों के मानवाधिकार की आवाज उठाई जाती है।

ऐसी ही विचारधारा के इतिहासकार कहते हैं कि इतिहास में यह क्यों नही पढ़ाया जाता कि हिन्दू राजाओं ने भी मन्दिर तोड़े हैं। हद तो तब हो गई, जब इन्हें भाइयों-भतीजों का हत्यारा औरंगजेब भी मन्दिरों को जागीर देता हुआ दिखाई दिया। इञ्जीनियर इतिहासकार ने कहा- "औरंगजेब को प्रबल हिन्दू विद्वेषी के तौर पर हमारे पाठ्य इतिहास में पढ़ाया जाता है। उसने काशी के विश्वनाथ मन्दिर (शिव मन्दिर) को तोड़ा था लेकिन इसी शहर के जंगमबाड़ी शिव मन्दिर को उसने काफी बड़ी जागीर दान की थी। यह सब हमारे पाठ्य इतिहास में नहीं पढ़ाया जाता है।... उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर को उसने विराट जागीर दान की थी।... मध्य प्रदेश बार्डर पर चित्रकूट में औरंगजेब ने खुद ही राम मन्दिर बनवा दिया था और इस मन्दिर को २५० बीघा जमीन की जागीर दी हुई है। ये सब विषय इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में आने चाहिए।"

समीक्षा- औरंगजेब हिन्दू विद्वेषी था, यह उसके काल के सभी इतिहासकार लिखते हैं। उन पुस्तकों में हिन्दुओं के लिए घृणित शब्द 'काफिर' लिखा हुआ है। क्या हिन्दुओं पर 'जजिया' कर लगाना उसके हिन्दू-प्रेमी होने का प्रतीक था? हिन्दू की तो छोड़ो, वह तो मुस्लिम-विद्वेषी भी था। राज्य-प्राप्ति के लिए उसने किस तरह मुसलमानों (अपने भाई-भतीजों) के साथ छल-कपट कर उनकी बेरहमी से हत्या करवाई; अपने बाप को जेल में डाला, मुगल दरबार में (१६५६-१६६८ ई०) रहने वाले फ्रांस के डॉक्टर बर्नियर ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। अपने राज्य की रक्षा के लिए औरंगजेब ने अपने बड़े बेटे मुहम्मद सुल्तान को अल्मारी में बन्द करवाकर दिल्ली से ग्वालियर दुर्ग में भेजा, जहाँ ५ दिसम्बर १६६६ ई० को जेल में ही उसकी मृत्यु हो गई। जनवरी १६८० ई० में उसकी शहजादी जैबुन्निसा जेल में डाल दी गई थी और वहीं सड़कर मर गई। शाहजादा मुअज्जम को १६८६ ई० में जेल में डाल दिया था, जो

लगभग ८ वर्ष बाद छोड़ा गया। उसकी नीतियों से तंग आकर ही उसके बेटे अकबर ने विद्रोह कर राजपूतों से सन्धि की थी। बाद में वह दर-दर भटकता हुआ मर गया।

जो औरंगजेब अपने सगे भाई दाराशिकोह को भी काफिर कहकर कटवा देता है, उसे हिन्दू-विद्वेषी नहीं तो क्या हिन्दू प्रेमी कहें? सैकड़ों हिन्दू मन्दिर लूटने वाले औरंगजेब ने यदि एक-दो मन्दिर को कुछ सहायता दी भी होगी, तो इससे भी औरंगजेब सहिष्णु नहीं बन सकता। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने लिखा है कि यह तो हमको स्वतः स्वीकार कर लेना चाहिए कि औरंगजेब ने कुछ मठाधीशों और उनके मन्दिरों के नाम कुछ जागीरें लगायी थीं किन्तु वे जागीरें उनके पूर्वज सम्राटों ने दी थीं और औरंगजेब ने केवल उनकी पुष्टि भर कर दी थी और यदि उसने जागीरें दी भी थीं, तो केवल उन्हीं को दी थीं, जो उसके काम में आये थे अथवा उसकी कूटनीतिक चाल में सहायक हुए थे। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यदि औरंगजेब ने एक हिन्दू मठाधीश को जागीर दी भी थी, तो हजारों मन्दिरों को ढा दिया था और हजारों मठाधीशों की जीविका का अपहरण कर लिया था।

बस इतनी सी बात को इतिहासकार कहते हैं कि पाठ्यपुस्तकों में आनी चाहिए। जबकि इनके भाषण देने के समय (३१ मार्च २००२) से वर्षों पूर्व (१९९० ई0) से छात्र प्रो० सतीश चन्द्र द्वारा लिखित 'मध्य कालीन भारत' (ग्यारहवीं कक्षा, एन.सी.इ.आर.टी.) में हत्यारे औरंगजेब के गुणगान पढ़ रहे थे। प्रो० साहब ने तो औरंगजेब को 'जिन्दापीर' तक सिद्ध करने के लिए शिवाजी को लुटेरा व हिन्दुओं पर जुल्म करने वाला लिखा है। ऐसी ही मानसिकता के लोग देश की राजनीति में भी छा गये हैं, तभी तो फरवरी-मार्च २०१६ में आये समाचार ने देश के प्रबुद्ध लोगों को शोक व आश्चर्य में डाल दिया कि पाकिस्तानी-अमेरिकी आतंकी डेविड हेडली ने १५ जून, २००४ को पुलिस मुठभेड़ में तीन आतंकियों के साथ मारी गई इशरत जहाँ को लश्कर की फिदायीन बताया। पर हमारे ही कुछ 'दयालु' नेता उसे 'मासूम बन्दी' प्रचारित करते रहे। यही नहीं, सत्ता पक्ष के ही किसी बड़े मंत्री ने ३० सितम्बर २००९ को उसे आतंकी घोषित करने वाला गुजरात उच्च न्यायालय (६ अगस्त) का हलफनामा ही बदलवा दिया। यह प्रवृत्ति आज की नहीं है। देखिये-

गणेश शंकर विद्यार्थी की निर्मम हत्या करने वाले (कानपुर) दंगे की जाँच समिति (कांग्रेस) की रिपोर्ट में (१९३१ ई०) लिखा था- "मुसलमान घुसपैठियों और आक्रमणकारियों को उनके युग में भी बहुत अधिक क्रूर व हठधर्मी बनाकर पेश किया गया है।... वस्तुतः पुरुषों और महिलाओं की दासता, शहरों का नाश और मंदिरों का अपवित्रीकरण और डाकेजनी पूरे मध्य युग में युद्ध की सामान्य घटनाएँ थीं। ... कथा (इतिहास) लेखक धार्मिक उलेमाओं द्वारा धर्मनिंदकों की पूरी जमात नरक में भेजी जाती है, हजारों मंदिरों को जमींदोज किया जाता है और हर महत्त्वपूर्ण युद्ध के बाद दुनिया मूर्तिपूजा के हर अवशेष से शुद्ध कर दी जाती है।

जरा सोचिये, जब क्रूरता उस युग की सामान्य बात थी और तत्कालीन मुस्लिम लेखकों ने भी वही लिखा, तो इसमें बनावटीपन कहाँ है? यदि लेखकों ने अन्यथा लिखा था, तो उन्हें शासकों ने दण्ड क्यों नहीं दिया? आज उस क्रूरता का वर्णन होने पर तथाकथित सेकुलर अत्याचारियों के बचाव में क्यों कूदते हैं? इतिहास घटना के कारण प्रस्तुत करता है, ताकि भविष्य में उन कारणों को हटाकर दुर्घटना से बचा जा सके। क्यों न हम औरंगजेब के नकली चरित्र की अपेक्षा दाराशिकोह के वास्तविक चरित्र का प्रचार करें। पाकिस्तान की शह पर खूनी खेल खेलने वाले कश्मीरी आतंकवादी बुरहान वानी को मुख्याध्यापक का 'मासूम बच्चा' प्रचारित करने से आतंकी गतिविधियाँ तो नहीं रुकीं। फिर हम जानबूझकर

देशद्रोह का पाप क्यों करें?

यदि औरंगजेब ने राम मन्दिर (चित्रकूट) बनवाया होता, तो काशी व मथुरा के प्रसिद्ध मन्दिरों पर ये मस्जिदें क्यों खड़ी करवाईं? जब 'औरंगजेबनामा' में छोटे-बड़े मन्दिर तोड़ने का वर्णन है, तो मन्दिर बनवाने का क्यों नहीं? जब छोटे-बड़े, देशी-विदेशी व्यक्ति को दी गई भेंट का वर्णन है, तो मन्दिरों को दी गई जागीर का क्यों नही। काश, औरंगजेब चित्रकूट में राम मन्दिर न बनवाकर अयोध्या में विवादित ढांचे की जगह राम मन्दिर बनवा देता, तो हिन्दू मुस्लिम का आधा झगड़ा मिट जाता। न राजनेताओं को वोट माँगने के बहाने मिलते, न लेखकों को मन्दिर-मस्जिद के पक्ष-विपक्ष में लिखने के लिए सिर खपाना पड़ता। फिर तो औरंगजेब बिना प्रचार के 'जिन्दा पीर' मान लिया जाता।

जिस तरह प्रो० सतीश चन्द्र ने औरंगजेब को जिंदा पीर सिद्ध करने के लिए शिवाजी को लुटेरा लिखा। उसी तरह इतिहासकार असगर अली ने टीपू सुल्तान को मन्दिरों को दान देने वाला प्रचारित करने के लिए मराठों को हिन्दू मन्दिर तोड़ने व लूटने वाला कह दिया- "टीपू सुल्तान के शासन काल में मराठों ने मैसूर पर हमला किया था। ये मराठे हिन्दू होते हैं, उन्होंने मैसूर के पवित्र मन्दिर तोड़कर सारी धन-दौलत लूट ली थी। तब टीपू ने एक चिट्ठी जगत् गुरु शंकराचार्य को लिखी थी कि .... मन्दिरों का क्या-क्या नुकसान हुआ है... (मैं) उसकी क्षतिपूर्ति कर दूँगा। शंकराचार्य ने अपनी सूची भेजी थी और टीपू ने दोबारा फिर उन्हें बनवा दिया था। राजनैतिक उद्देश्य से ही हिन्दू-मुस्लिमों ने मन्दिर-मसिजद तोड़े हैं, किसी की बेइज्जती करने के उद्देश्य से नहीं।"

समीक्षा- पाठ्य पुस्तकों में तो टीपू सुल्तान को अंग्रेजों से लड़ने वाला देशभक्त पढ़ाया जाता है और इसी कारण भारत के लोग 'टीपू की तलवार' पर गर्व करते हैं, पर मुस्लिमों में उसका जिहादी स्वरूप ही आदरणीय रहा, जो इतिहास में तो मिलता है, पर पाठ्यपुस्तकों में नहीं पढ़ाया गया। क्योंकि वह वीभत्स रूप सामने लाने से भारत की धर्मनिरपेक्ष सरकारें डरती हैं। पर सत्य अधिक समय तक नहीं छुप सकता। तभी तो नवम्बर २०१५ में कर्नाटक की कांग्रेस सरकार द्वारा टीपू सुल्तान की जयन्ती मनाए जाने का विरोध हुआ। विरोध करने वालों में हिन्दुओं के साथ ईसाई भी थे, जो टीपू को मजहब में अन्धा हुआ जिहादी मानते हैं।

श्री बलबीर पुंज ने प्रख्यात इतिहासकार लुइस राइस की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ मैसूर' को उद्धृत करते हुए लिखा है- "टीपू सुल्तान के विस्तृत साम्राज्य में श्रीरंगपट्टम किले के अन्दर केवल दो मन्दिरों में ही पूजा-अर्चना होती थी। यह उन ब्राह्मण ज्योतिषियों को प्रसन्न करने के लिए था, जो उसकी कुण्डली देखते थे। १७९० से पूर्व ही सभी हिन्दू मंदिरों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई थी।"

मास्को प्रगति प्रकाश द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'भारत का इतिहास' में को०अ० अंतोनोवा आदि ने लिखा है७ "युद्ध के हरजाने के भुगतान (१७९२ ईँ, अंग्रेजों को) तथा सेना के रख-रखाव के लिए... टीपू ने भूमिकर में ३०% और व्यापार शुल्क तथा चुंगी में सात प्रतिशत से अधिक वृद्धि की। पादशाह (टीपू) ने ऐसी स्थितियों में छोटे सामंतों अथवा वालयक्करों (पोलिगारों), जागीरदारों और हिन्दू मन्दिरों की भूमि पर कब्जा करना शुरु कर दिया।... निरंकुश विधियों से देश का द्रुत आर्थिक विकास करने के टीपू के सभी प्रयास असफल हुए।'' (अनुवादक- नरेश बेदी, पृ. ३९५)

वीर सावरकर ने लिखा है कि मराठों और अंग्रेजों द्वारा परास्त किए जाने के बाद हिन्दुओं को अपनी ओर मिलाने के लिए टीपू सुल्तान ने हिन्दुओं के प्रति उदारता का मार्ग अपनाया। उसने हिन्दू मठ-मन्दिरों को दान देना आरम्भ कर दिया। मुसलमानों द्वारा तोड़कर गिराये मन्दिरों में उसने नयी-नयी मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा भी कराई। स्वयं शंकराचार्य महाराज का बड़ा सम्मान किया

शेष पृष्ठ २० पर

मुंशी प्रेमचंद और आर्यसमाज

(डॉ0 विवेक आर्य, दिल्ली, मो0:-08076985518)

मुंशी प्रेमचंद! यह नाम सुनते ही २०वीं शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार का नाम स्मरण हो उठता है। जिन्होंने अपनी लेखनी से समाज सुधार का ऐसा सन्देश दिया जो पढ़ने वालों को आज भी प्रभावित किये बिना नहीं रहता। प्रेमचंद के साथ एक बड़ा अन्याय भी हुआ। अपना नाम चमकाने के चक्कर में अनेक लेखकों ने उनके साथ छल किया। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण को देखते हुए कोई उन्हें साम्यवादी बताता है, कोई मार्क्सवादी, कोई गाँधीवादी बताता है। सत्य यह है कि मुंशी प्रेमचंद १९वीं सदी में आरम्भ हुई क्रांति के पुरोधा महर्षि दयानन्द के क्रान्तिकारी चिंतन से प्रभावित थे। महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना करते हुए अपनी अकाट्य तर्कों और युक्तियों से धार्मिक अन्धविश्वास और रूढ़िवादी संकीर्णताओं की बुनियादें हिला दी थीं। आर्यसमाज के सामाजिक सुधार के आंदोलन में प्रेमचंद अपनी लेखनी के माध्यम से रण के शूरवीर बने। प्रेमचंद की लेखनी में सुधारवादी और शिक्षात्मक स्वर सुनाई देता है।

प्रारम्भ में प्रेमचंद ने उर्दू में लिखना आरम्भ किया। असरारे माबिद, हमखुर्बा व हमसवाब और किशना उनकी प्रारंभिक उर्दू कृतियाँ थीं। हिंदी अनुवाद गबन और प्रेमा नाम से छपे थे। इन ग्रंथों में प्रेमचंद ने धर्म के नाम पर शोषण करने वाले महंतों व पुजरियों की पोल खोली। जैसे एक आर्यसमाजी प्रचारक धर्म के नाम पर चल रही कुरीतियों का भंडाफोड़ करता है। कालांतर में **प्रतिज्ञा** के नाम से उपन्यास लिखा। इस उपन्यास का पात्र अमृतराय विधवा विवाह वह भी अंतर्जातीय करने का दुस्साहस उस काल में करता है। समाज अमृतराय के विरुद्ध है। पर उसके मन में तो जाति की उन्नति का सपना है। जिस काल में कोई इस विषय में सोच भी नहीं सकता था। यह चिंतन प्रेमचंद को आर्यसमाज के विधवा विवाह अभियान से मिला।

प्रेमचंद के अगले उपन्यास **वरदान** में देशोद्धार समाहित है। उपन्यास का चरित्र नायक बालाजी है, जो समाज सुधार के लिए समर्पित है। गाँव के बच्चे भूखे मरते हैं। बालाजी उनके कल्याण के लिए गौशाला खुलवाकर उन्हें दूध पिलाते हैं। समाज के निर्धन बच्चों पर ऐसा उपकार करने का सन्देश महर्षि दयानन्द ने ही तो दिया था। जिसे प्रेमचंद ने अपने लेखनी से उकेरा।

प्रेमचंद आर्यसमाज के सदस्य भी बने। फरवरी, १९१३ में मझगांव से निगम को लिखा

"मेरे जिम्मे हमीरपुर आर्यसमाज के दस रुपये बाकी हैं। बार-बार तकाज़ा हआ है, मगर तंगदस्ती ने इजाज़त न दी कि अदा कर दूँ। आप अगर एफोर्ड कर सकें तो बरारास्त मेरे नाम से हमीरपुर आर्यसमाज के सेक्रेटरी के नाम दस रुपये का मनीआर्डर कर दें। ममनून हूँगा। तकलीफ तो होगी मगर मेरे खातिर इतना सहना पड़ेगा क्यूंकि यहाँ अब जलसा भी अनकरीब होने वाला है। मुकर्रर अर्ज यह है कि यह दस रुपये जरूर भेज देवें। मैंने जनवरी में अदा करने के इतमी वायदा किया है।"

एक महीने के बाद फिर याद कराया,

"अगर आपने हमीरपुर समाज के नाम दस रुपये रवाना न किए हों, तो बराहे करम अब कर दीजिए, क्यूंकि मैं १४ मार्च को वहाँ जाऊँगा और तकाजा नहीं सहना चाहता।"

इस जलसे पर आर्यसमाज के प्रचारक मौलवी महेश

प्रसाद आलिम फ़ाज़िल अपने साथियों के साथ प्रेमचंद के आवास पर ठहरे। उनके वार्तालाप के विषय दो थे। पहला आर्यसमाज और कार्य सम्बंधित। दूसरे महोबा में ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू लड़के-लड़कियों को ईसाई बनाना।

इसी चिंतन का परिणाम हम प्रेमचंद की अगली कृति **खूने सफेद** में पढ़ते हैं। इस कृति में एक अकाल-ग्रस्त परिवार के बच्चे को ईसाई पादरी क्रिश्चियन बनाकर पढ़ने के लिए पुणे भेज देता है। जब वह लौट कर आता है, तो उसका परिवार तो उसे अपनाना चाहता है। मगर उसका समाज उसके विधर्मी बनने के कारण उसे स्वीकार नहीं करता। वह युवक यह कहकर कि जिनका खून सफेद है, मैं उनके बीच में नहीं रह सकता चला जाता है। प्रेमचंद अपनी इस कृति में ईसाई धर्मान्तरण और उसके सामाजिक प्रभाव पर एक आर्यसमाजी के समान चिंतन प्रस्तुत करते हैं।

आर्यसमाज के देश को स्वतंत्र करवाने के चिंतन से भी प्रेमचंद प्रभावित हुए बिना न रहे। सरकारी नौकरी में होते हुए भी प्रेमचंद ने **सोजे तन** के नाम से उपन्यास लिखा, जो देशप्रेम की पाँच कहानियों का संग्रह था। पुस्तक जब्त हुई। प्रेमचंद को धमकी मिली कि आगे कुछ भी लिखने से पहले सरकार से इजाजत लेनी होगी। प्रेमचंद ने नाम बदलकर नवाब राय के नाम से **वरदान** लिखा। इसके चरित्र सुवामा की इच्छा स्वामी दयानन्द के समान देशसुधार की है। अंग्रेजों की नाक के तले ऐसे पंगे लेने वाला कोई आर्यसमाजी ही उस काल में हो सकता था। प्रेमचंद उन्हीं में से एक थे।

१९२० के दशक में भारत हिन्दू-मुस्लिम दंगों में जल उठा। प्रेमचंद जानते थे कि इन दंगों के पीछे अंग्रेज है। आपने **नवी का नीति निर्वाह, फातिहा, मंदिर और मस्जिद, कर्बला** लिखे। **कायाकल्प** में उन्होंने मुसलमानों को ईद पर गौवध से रोका। **कायाकल्प** में हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य हुए संवाद का सन्देश सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में दिए गए सन्देश से मिलता है।

प्रेमचंद हिंदी के बड़े पक्षधर थे। उर्दू से आरम्भ कर हिंदी में आये। महर्षि दयानन्द देवनागरी के माध्यम से देश को एक सूत्र में जोड़ने का सन्देश दे गए। प्रेमचंद उसी सन्देश को अपने उपन्यास **वरदान** में देते हैं। इस उपन्यास के पात्र मुंशी संजीवनलाल अपनी पुत्री बिरजन से कहते हैं "बेटी, तुम तो संस्कृत पढ़ती हो। जिस पुस्तक की तुम बात करती हो वह तो भाषा में है।" बिरजन उत्तर देती है "तो मैं भी भाषा ही पढूंगी। इसमें कैसी अच्छी कहानियाँ हैं। मेरी किताब में तो एक भी कहानी नहीं है।" प्रेमचंद कैसे सरलता से हिंदी का प्रचार कर रहे हैं। पाठक ध्यान दें।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने उर्दू में **'आपका चित्र'** नामक कहानी तीन अध्यायों में लिखी थी जो लाहौर के उर्दू पत्र **'प्रकाश'** में सन् १९२९ में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के पहले भाग में उन्होंने आर्यसमाज के लोगों द्वारा महर्षि दयानन्द का अपने घरों में चित्र लगाये जाने को मूर्तिपूजा से भिन्न होने या न होने पर बहुत ही मार्मिक शब्दों में प्रकाश डाला है। मूर्तिपूजा व चित्रपूजा का ऐसा सशक्त भावपूर्ण चित्रण इससे पूर्व कहीं पढ़ने को नहीं मिलता। यह उनके आर्यसमाजी होने का सबसे बड़ा प्रमाण माना जा सकता है। वह लिखते हैं- 'लोग मुझसे कहते हैं तुम भी मूर्ति-पूजक हो। तुम ने भी तो स्वामी दयानन्द का चित्र अपने कमरे में लटका रखा है। माना कि तुम उसे जल नहीं चढ़ाते हो। इसको भोग नहीं लगाते। घण्टा नहीं बजाते। उसे स्नान नहीं कराते। उसका श्रृंगार नहीं करते। उसका स्वांग नहीं बनाते। उसको नमन तो करते ही हो। ऋषि दयानन्द की विचारधारा को तो सिर झुकाते हो, मानते ही हो। कभी-कभी माला व फूलों से भी उसका सम्मान करते हो। यह पूजा नहीं तो और क्या है?'

इन सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुंशी प्रेमचंद जी

लिखते हैं- ''उत्तर देता हूँ कि श्रीमन् इस आदर व पूजा में अन्तर है। बहुत बड़ा अन्तर है। मैं उसे अपने कक्ष में इसलिए नहीं लटकाये हुए हूँ कि उसके दर्शन से मुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी। मैं आवागमन के चक्कर से छूट जाउंगा। उसके दर्शन मात्र से मेरे सारे पाप धुल जायेंगे अथवा मैं प्रसन्न करके अपना अभियोग (case) जीत जाउंगा अथवा शत्रु पर विजय प्राप्त कर लूँगा किंवा और किसी ढंग से मेरा धार्मिक अथवा साँसारिक प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा। मैं उसे केवल इस कारण से अपने कमरे में लटकाये हुए हूँ कि स्वामी जी के जीवन का उच्च व पवित्र आचरण सदा मेरे नयनों के सम्मुख रहे। जिस घड़ी साँसारिक लोगों के व्यवहार से मेरा मन ऊब जाये, जिस समय प्रलोभनों के कारण पग डगमगायें अथवा प्रतिशोध की भावना मेरे मन में लहरें लेने लगे अथवा जीवन की कठिन राहें मेरे साहस व शौर्य की अग्नि को मन्द करने लगें, उस विकट वेला में उस पवित्र मोहिनीमूर्त के दर्शनों से आकुल- व्याकुल हृदय को शान्ति हो। दृढ़ता धीरज बने रहें। क्षमा व सहनशीलता के मार्ग पर पग चलते चलें तथा मैं अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि इस चित्र से मुझे लाभ पहुँचा है और एक बार नहीं कई बार।''

कहानी के दूसरे भाग में एक राजा का वर्णन किया गया है, जो अपने एक विश्वसनीय सेवक को अपनी पसन्दीदा महिला के प्रेमी की हत्या का कार्य सौंपता है और उस कार्य को करने के बदले में अकूत सम्पत्ति देने का वायदा करता है। युवक प्रलोभनवश तैयार हो जाता है परन्तु घर जाकर दीवार पर स्वामी दयानन्द का चित्र देखकर अपने निर्णय को स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के विपरीत जानकर पश्चाताप करता है और, परिणाम की चिन्ता न कर, साहस करके राजा साहब के पास जाकर अपनी असमर्थता व्यक्त करता है। इस पर उसे अनेक कटु बातें सुनने को मिलती हैं। राजा साहेब होठों को दाँतों से काटकर बोले, "बहुत अच्छा जाओ और आज ही रात को मेरे राज्य की सीमा से बाहर निकल जाओ। सम्भव है कल तुम्हें यह अवसर न मिले।" उसी लहर में उन्होंने उस पूर्व विश्वसनीय युवक को नमकहराम, टेढ़ी बुद्धि वाला, अधम और न जाने क्या-क्या कहा। प्रणाम कर वह युवक चला जाता है। उसी रात्रि को अकेले ही कुछ वस्त्र और कुछ रुपये एक सन्दूक में रखकर घर से निकल पड़ा। हां! स्वामी जी का चित्र उसके सीने से लगा हुआ था। इस कहानी में मुंशी प्रेमचन्द जी ने स्वामी दयानन्द व उनके चित्र के प्रति अपने मनोभावों को प्रस्तुत किया है।

प्रेमचंद का सबसे तीव्र प्रहार अपनी लेखनी द्वारा अगर किसी क्षेत्र में सबसे अधिक हुआ, तो वह जातिवाद के विरुद्ध था। जन्मना जातिवाद की कड़ी आलोचना की थी। नीच कहलाने वाली जातियों के सामाजिक उत्थान के लिए उनके हृदय में एक विशेष तड़प थी। जातिवाद और छुआछूत भगाने का आवाहन स्वामी दयानन्द ने किया था, जिसे आर्यसमाज के शीर्ष नेताओं जैसे स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, भाई परमानन्द, लाला गंगाराम, संतराम बी.ए. ने न केवल आगे बढ़ाया, बल्कि रोपड़ के पंडित सोमनाथ की माँ, जम्मू के महाशय रामचंद्र, इंदौर के वीर मेघराज जाट ने अपना बलिदान तक दे दिया। प्रेमचंद इसी कड़ी में स्वामी दयानन्द के एक प्रबल संदेशवाहक बनकर जातिवाद के विरुद्ध अपने लेखनी थामते दिखे।

जहाँ एक ओर प्रेमचंद हंस पत्रिका के मुख पृष्ठ पर १९३३ में डॉ० अम्बेडकर का चित्र यह कहकर छापते हैं -"आपने सतत उद्योग से अनेक परीक्षाएं पास करके विद्वता प्राप्त की है और यह प्रमाणित कर दिया है कि अछूत कहलाने वाली जातियों को किन्हीं असाधारण उपकरणों से ईश्वर ने नहीं बनाया। इस समय आप विश्वविख्यात व्यक्तियों में हैं।"

वहीं दूसरी ओर आप अपने उपन्यास **कर्मभूमि** में एक ऊँचे परिवार में जन्मे युवक अमरकांत का वृतांत लिखते हैं। जो नीची जाति की बस्ती में जाकर रहने लगता है। उन्हें स्वच्छता का सन्देश और शिक्षा देता है। उन्हें शराब और मुर्दा मांस खाने से विमुख करने का प्रयास करता है। अंत में उसकी विजय होती है। कर्मभूमि पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रेमचंद किसी सवर्ण परिवार में जन्मे आर्यसमाजी प्रचारक के जीवन वृतांत को अपनी कलम से उद्धृत कर रहे हों।

मंदिरों में चमारों के प्रवेश न कर पाने पर प्रेमचंद एक ऐसा कटाक्ष लिखते हैं, जो पढ़ने वालों की आत्मा को अंदर तक झकझोर देता है। प्रेमचंद लिखते हैं कि चमारों के हाथ के बने जूते पहनकर कोई भी मंदिर जा सकता है। मानो जूते पवित्र चीज थे मगर उसे बनाने वाले चमार अपवित्र थे। शांतिकुमार नामक युवक अछूतों के मंदिर प्रवेश के लिए आंदोलन करता है। लाठियाँ, गोलियाँ चलती हैं। अंत में चमारों को मंदिर प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता है। एक बड़ा भारी समारोह होता है। आर्यसमाज ने अनेक बार दलितो के मंदिर में प्रवेश के लिए आंदोलन किये। यह दृष्टान्त यथार्थ में किसी घटना का साक्षात् वर्णन प्रतीत होता है।

मंदिर के महंतों के अनैतिक हरकतों को लिखकर उन्हें अपराधी सिद्ध करने में भी प्रेमचंद पीछे नहीं रहते। प्रेमचंद मठाधीशों को जुआ खेलने वाला, ईमान बेचने वाला, झूठी गवाहियाँ देने वाला, भीख माँगने वाला और जिनके स्पर्श तक से देवता कलंकित हो ऐसा धर्म के पाखंडी ठेकेदार लिखते हैं। पाठक समझें कि प्रेमचंद के हृदय में अछूत कहलाने वाले लोगों से उनका धार्मिक अधिकार छीने जाने पर कितनी पीड़ा होगी, जिसका वर्णन प्रेमचंद ने सहभोज करने का वर्णन दर्शाते हैं। **मंदिर** नामक कहानी में प्रेमचंद एक चमारिन विधवा को मंदिर में प्रवेश न करने देने वाले पुजारी को निर्दयी धर्म के ठेकेदार लिखते हैं। यह लेख चांद पत्रिका के अछूत अंक विशेष में प्रकाशित हुआ था। **ठाकुर का कुआं, दूध का दाम, सद्गति, जीवन में घृणा का स्थान-साहित्य में घृणा का स्थान, कफ़न** प्रेमचंद की कुछ कृतियाँ हैं, जिनमें उन्होंने समाज के सबसे अधिक दबे, कुचले हुए पात्रों पर हो रहे अत्याचारों का मार्मिक चित्रण किया है। उनके उद्धार की कामना का सन्देश दिया है। उस काल में यह सन्देश एक आर्यसमाजी हृदय के व्यक्ति की कामना के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था।

अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले मुंशी प्रेमचंद अप्रैल १९३६ में लाहौर आर्यसमाज की जुबली के अवसर पर आर्यभाषा सम्मेलन के अध्यक्ष के नाते प्रसंगवशात् आर्यसमाज की सराहना करते हुए कहते हैं-

"आर्यसमाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्यभाषा सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अंतर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है, जिनमें आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है और उनमें उर्दू और हिंदी दोनों का दर्जा बराबर है। मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था मानता हूँ, उतनी ही तहज़ीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करें, तो मैं कहूँगा कि उसके तहज़ीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से भी प्रसिद्ध और रोशन हैं। आर्यसमाज ने साबित कर दिया है कि समाज की सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने के लक्षण हैं। कौमी जिंदगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरदेशी का सबूत दिया है, उस पर गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की ज़रूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सर पर है। जातिगत भेद-भाव और खान-पान में छूतछात और चौके- चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा पर वह

थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अन्धविश्वास और धर्म के नाम पर किए जाने वाले हज़ारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी, हालांकि मुर्दे को उसमें दफन न कर सका और अभी तक उसका जहरीला दुर्गन्ध उड़कर समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो। उसके उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन विषय को जन-साधारण की संपत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवर वाले ताले लगे हुये थे। आज आर्यसमाज के उत्सवों और गुरुकुलों के जलसों में हजारों मामूली लियाकत के स्त्री-पुरुष सिर्फ विद्वानों के भाषण सुनने के लिए खिंचे चले जाते हैं। गुरुकुलाश्रम को नया नाम देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को सम्पूर्ण बनाने का महान उद्योग किया है। सम्पूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा से जो सर्वांगपूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे ख्याल में वह चिरसत्य है। वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाये, अधूरी है। जिन संस्थाओं में युवकों में समाज से पृथक् रहने वाली मनोवृत्ति पैदा करें, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुश्किलों का सामना करने की शक्ति न रह जाए, जहाँ कला और संयम न हो, जहाँ की कला केवल नाचने गाने और नकल करने में ही जाहिर हो, उस शिक्षा का मैं कायल नहीं हूँ। शायद ही मुल्क में कोई ऐसी शिक्षण संस्था हो, जिसने कौम की पुकार का इतना जवांमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममें सेवा और त्याग का भाव न लाए, अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाए, अगर विद्या हममें स्वाभिमान पैदा न करे, और हमें समाज के जीवन- प्रवाह से अलग रखे, तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और आर्यसमाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है कि स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में सत्यार्थ प्रकाश लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक़ नजर ने देख लिया कि अगर जनता में प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिदी भाषा ही अकेला साधन है और गुरुकुलों ने हिंदी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा प्रेम को और भी सिद्ध किया है।"

दिल्ली से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'शुद्धि समाचार' का जनवरी-फरवरी १९३२ का संयुक्तांक श्रद्धानन्द बलिदान अंक के रूप में प्रकाशित हुआ था, जिसमें प्रेमचंद का लेख 'स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस लेख में प्रेमचंद ने भारतीय शिक्षा प्रणाली को स्वामी श्रद्धानंदजी की देन पर विस्तार से प्रकाश डाला है। प्रकारान्तर से इस लेख को भी स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी में बिताए गए तीन दिनों से प्रभावित स्वीकार किया जा सकता है। इस लेख से भी प्रेमचंद की आर्यसमाजी विचारधारा ही प्रमाणित होती है।

गुरुकुल कांगड़ी की साहित्य परिषद् के जुलाई १९२७ में हुए वार्षिकोत्सव की अध्यक्षता प्रेमचंद ने की थी और इस उत्सव में वहाँ निरन्तर तीन दिन तक प्रवास करके गुरुकुल कांगड़ी से पर्याप्त परिचय प्राप्त किया था। प्रेमचंद ने वहाँ के तीन दिनों के अनुभव लिपिबद्ध करके **'गुरुकुल कांगड़ी में तीन दिन'** शीर्षक लेख के रूप में लखनऊ की मासिक पत्रिका 'माधुरी' के अप्रैल १९२८ के अंक में प्रकाशित करा दिए थे। प्रेमचंद के इस लेख का उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रकारिता के युगपुरुष महाशय कृष्णजी के सम्पादन में लाहौर से प्रकाशित होने वाले उर्दू साप्ताहिक 'प्रकाश' के २२ अप्रैल १९२८ के अंक में भी प्रकाशित हो चुका है। गुरुकुल कांगड़ी के अनुभवों पर प्रेमचंद ने एक पूरक लेख लिखकर चार वर्ष उपरान्त पण्डित बनारसी दास चतुर्वेदी के सम्पादन

में कलकत्ता से प्रकाशित मासिक पत्र 'विशाल भारत' के अगस्त १९३२ के अंक में 'पद्मसिंह शर्मा के साथ तीन दिन' शीर्षक से प्रकाशित कराया था, जो प्रेमचंद के मानस पर आर्यसमाज की स्थायी छाप का ज्वलन्त प्रमाण है।

मुंशी जी स्वयं आर्यसमाज के सदस्य थे और दलित उद्धारक एवं हिंदी भाषा के समर्थक थे। प्रेमचंद जी के आर्यसमाज के अनेक विद्वानों से सम्बन्ध थे। जैसे पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय जी उनके सहपाठी थे, महेश प्रसाद जी उनके मित्र थे, कहानीकार सुदर्शन जी भी उनके अभिन्न मित्र थे, इन्द्र विद्यावाचस्पति जी के साथ सम्बन्ध थे, आचार्य रामदेव जी के अपार स्वाध्याय के आप प्रशंसक थे। पंडित पद्म सिंह शर्मा और चंद्रमणि विद्यालंकार से आपके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। मुंशी प्रेमचन्द जी अपने जीवन की अन्तिम वेला तक आर्यसमाजी पत्रों में लिखते रहे। उनके लेखों में ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने इस आर्य सिद्धान्त पर डटकर लिखा है। **सबको अपनाना, किसी को अस्पृश्य न मानना, आर्य धर्म के बन्द द्वार सबके लिए खोलना, दीनों की रक्षा, धेनु की रक्षा, प्राणिमात्र से प्यार, प्रेमचन्द जी ने इन सब विषयों पर लिखा है और आर्यसमाज का गुणगान किया है।** निष्कर्षतः कह सकते हैं कि मुंशी प्रेम चन्द जी अपने जीवन में महर्षि दयानन्द व आर्यसमाज की विचारधारा से जुड़े रहे। उनकी सफलता का एक प्रमुख कारण उनका आर्य विचारधारा को अपनाना भी था। इसके माध्यम से उन्होंने आर्य विचारधारा का भूरिशः प्रचार-प्रसार किया।

वह आर्यसमाज के गौरव थे।

मुंशी प्रेमचंद और आर्यसमाज के संबंधों पर यह एक संक्षिप्त सा लेख है। इस विषय पर शोध की अधिक आवश्यकता है।

❑❑

पृष्ठ १४ का शेष

और उनसे आशीर्वाद लिया।"

यह ठीक है कि टीपू सुल्तान द्वारा हिन्दू मन्दिरों को देना नहीं पढ़ाया जाता, पर यह भी सत्य है कि पाठ्य पुस्तकों में यह भी नहीं पढ़ाया जाता कि उसने हिन्दुओं पर अत्याचार किये, उसके सैनिक हिन्दू औरतों को पकड़ कर ले गये, जिन्हें मूर्ख हिन्दू अपनी रूढ़िवादिता के कारण वापस अपने घरों में नहीं ला पाये। यदि टीपू द्वारा मंदिर तोड़ना और मन्दिरों को दान देना मजहब से प्रेरित न होकर केवल राजनीतिक स्वार्थ था, तो फिर उसकी उदारता कहाँ रही?

पाठ्य पुस्तकों में पढ़-पढ़कर हिन्दू लोग हुमायूं की महानता के गीत गाते रहे कि वह चित्तौड़ की राजमाता कर्मवती द्वारा भेजी गई राखी को बाँधकर आया और गुजरात के बहादुरशाह से चित्तौड़ की रक्षा की। जबकि वास्तव में वह आया ही नहीं। गुजरात के बहादुरशाह ने हुमायूं के विद्रोही गवर्नर मुहम्मद जमान मिर्जा को शरण दे रखी थी। हुमायूं उसे दण्ड देना चाहता था। अतः राखी स्वीकार कर वह चित्तौड़ की तरफ चल तो पड़ा, पर उस समय विधर्मी राणा से लड़ने वाले सधर्मी बहादुर शाह पर आक्रमण न करने की मुस्लिम परम्परा का पालन करते हुए वह सारंगपुर में ही रुक गया। उधर बहादुरशाह को भी विश्वास था कि हुमायूं मुस्लिम परम्परा का पालन अवश्य करेगा। अतः उसने चित्तौड़ दुर्ग का घेरा और सुदृढ़ कर दिया। चित्तौड़ के विनाश के बाद (८ मार्च १८३५ ई०) हुमायूं अपने अपराधी को दण्ड देने के लिए चला। झूठी कहानियों से हिन्दू तो बहकाए जा सकते हैं, मदरसों में मजहबी शिक्षा पाने वाले नहीं। फिर समाज में समरसता कैसे हो?

(क्रमशः)

❑❑

गीता आर्यसमाजी हो गई

(स्वामी विवेकानन्द सरस्वती, कुलाधिपति, गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ)

प्रबुद्ध सुधी पाठकों को यह शीर्षक आश्चर्यचकित करने वाला प्रतीत होगा, किन्तु यह शीर्षक बहुत पुराना है। जब पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर पधारे हुए थे, प्रातः काल गंगा के तट पर बैठकर तन्मयता से वे गीता का पाठ (पारायण) कर रहे थे। इस दृश्य को देखकर एक पौराणिक व्यक्ति जो पूज्य स्वामी (समर्पणानन्द) जी को पहचानते थे, उन्होंने अपने एक आर्यसमाजी मित्र को संकेत करते हुए कहा कि- जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले, देखो तुम्हारे आर्यसमाज के धुरन्धर विद्वान् भी कितनी तन्मयता से गीता का पाठ कर रहे हैं। वह आर्यसमाजी व्यक्ति पण्डित जी को गीता का पाठ करते हुए देखकर स्तब्ध रह गया और इतना विचलित हो गया कि पाठ करते हुए ही श्री पण्डित जी के निकट जाकर उनसे कहने लगा कि - क्या पण्डित जी आप पौराणिक हो गये? पण्डित जी ने तत्काल उसे पूछा कि - तुमको किसने कह दिया कि मैं पौराणिक हो गया? तब प्रश्नकर्त्ता ने कहा कि- यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आप वेद, सत्यार्थ-प्रकाश आदि का पाठ न करके गीता का इतनी तन्मयता से पाठ कर रहे हैं। 'तो गीता का पाठ करने मात्र से तुम्हारी दृष्टि में मैं पौराणिक हो गया, **तुम्हें ज्ञात नहीं गीता आर्यसमाजी हो गयी है, क्योंकि इसका पाठ बुद्धदेव कर रहा है।'** प्रश्नकर्ता महोदय अट्टहास करने लगे और उनके पौराणिक मित्र पर जो आघात हुआ, उससे वे अति लज्जित हुए।

इस घटना को लिखने का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार से पण्डित जी ने शतपथ ब्राह्मण के उद्धार का बीड़ा उठाया था, उसी प्रकार से उन्होंने गीता के उद्धार का भी संकल्प लिया था और उनका नियम था- **'जब तक मैं गीता की वैदिक व्याख्या नहीं लिख लूँगा, तब तक इसका प्रतिदिन पाठ करता रहूँगा।'** इसकी सत्यापना माता शकुन्तला गोयल (मेरठ) जो एक सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी एवं आर्यसमाज की कार्यकर्त्री थी, जो सन् १९५१ में मेरठ में सम्पन्न होने वाले सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन की स्वागताध्यक्षा तथा मॉरिशस में होने वाले आर्य महिला सम्मेलन की अध्यक्षा भी थी, उन्होंने बताया - 'जब भी कभी पण्डित जी मेरठ कार्यक्रम में आते थे, तो हमारा घर ही उनका आवास होता था। मैंने उनको तीन बजे प्रातः उठकर गीता का पाठ करते हुए बहुधा देखा है।' सन् १९६४ में जब गीता-भाष्य पूर्ण हो गया तभी उन्होंने अपने नियमित गीतापाठ के क्रम का परित्याग किया।

गीता पर अनेक भाष्य हुए। आद्य शंकराचार्य जी महाराज के भाष्य से पहले भी गीता पर अनेक भाष्य थे, इसका ज्ञान हमें श्री आचार्य जी के भाष्य से ही होता है, किन्तु आश्चर्य है कि आचार्य जी के भाष्य से पूर्ववर्त्ती भाष्य हमें उपलब्ध नहीं होते। पूज्य स्वामी जी ने भी मल्लिनाथ के भाव को जो उन्होंने महाकवि कालिदास के टीकाकारों पर बिगड़ते हुए लिखा है-

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या विषमूर्च्छिता।
एषा संजीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति।।

इन्हीं भावों से ओत-प्रोत लिखा है - 'गीता के जितने भी अपभाष्य हुए हैं, उनका समाधान करते हुए मैं यह भाष्य लिख रहा हूँ।'

अस्तु! जब स्वामी जी ने गीता के आर्यसमाजी होने का डिण्डिम घोष किया, तो आर्य पुरुषों की जिज्ञासा वृद्धि को प्राप्त हुई कि 'अन्ततः वे कौन-सी पंक्तियाँ हैं, जिनका पण्डित जी ने वैदिक अर्थ किया है', तो हम उद्धृत कर रहे हैं। उनके प्रथमाध्याय की व्याख्या का एक स्थल- "महाभारत का युद्ध भारत के इतिहास की

एक सच्ची घटना है, कपोल कल्पना नहीं। उस घटना का प्रयोग महाकवि वेदव्यास जी ने मनुष्य को धर्म का सच्चा स्वरूप दिखाने के लिए अपने काव्य में किया है और दैवी सम्पत्ति की सेना के संचालक का स्वरूप योगिराज कृष्ण को दिया है। भाव कृष्ण वार्ष्णेय के, शब्द कृष्ण द्वैपायन के, घटना इतिहास की। **"अहो लोकोत्तरः संगमः।"** यहाँ इन तीन-चार पंक्तियों के द्वारा ही पण्डित जी ने गीता को अनैतिहासिक कहने वालों के दुर्ग को ध्वस्त कर दिया, अन्यथा आधुनिक गीता के व्याख्याता तो अपनी मनमानी, मिथ्याकल्पना करते रहते थे। अब गीता के जो श्लोक पौराणिकता की पुष्टि में उद्धृत किये जाते थे-

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।। १.४०

इसका अर्थ करते हुए तथा उसकी विशेष व्याख्या करते हुए श्री पण्डित जी ने लिखा है- 'उत्तम कुलों के क्षय हो जाने पर कुल-परम्पराएँ नष्ट हो जाती हैं और उन परम्पराओं के नष्ट होने पर अधर्म सम्पूर्ण कुल को दबा लेता है।' (विशेष व्याख्या) हर उत्तम कुल की कुछ पवित्र परम्पराएँ और एक न एक लोक-कल्याणकारी संकल्प होता है, जो हर संकट में उन्हें बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए प्रेरित करता है। ये सब कुल-धर्म कहलाते हैं, किन्तु कुल के नेताओं के मारे जाने पर ये सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नष्ट होने पर जब उस कुल के सदस्यों के सामने बलिदान के लिए प्रेरणा देने वाला कोई लक्ष्य नहीं रहता तो सारे कुल में स्वार्थ और आपाधापी का बोलबाला हो जाता है और अधर्म सारे कुल को दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।। १.४१

हे कृष्ण! अधर्म के अधिक बढ़ जाने पर कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। (विशेष व्याख्या) हे कृष्ण! इस संसार में धर्म तथा उच्च भावनाओं का अन्तिम दुर्ग 'स्त्री-हृदय' है। किन्तु जब चारों ओर अधर्म का बोलबाला हो जाता है, तो यह अन्तिम दुर्ग भी टूट जाता है। एक तो चुनाव का क्षेत्र संकुचित हो जाने से विवाह भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार नहीं हो पाते और गुप्त व्यभिचार भी बहुत फैल जाता है, तो चारों ओर स्त्रियों के दूषित हो जाने से हे वार्ष्णेय! वर्णसंकर फैल जाता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।। १.४२

जहाँ वर्णसंकर विवाह होता है अथवा व्याभिचार होता है, वहाँ परस्पर गुण, कर्म, स्वभाव न मिलने से कुल नरक बन जाता है और इस प्रकार के कुलघाती और वह कुल जहाँ इस प्रकार के लोग हों, नरक जीवन बनाने के लिए ही साधन करते हैं और जब युद्ध में जवान लोग मारे जाते हैं, तो बूढ़े लोगों को आपातकाल में वानप्रस्थाश्रम छोड़कर घर सम्भालना पड़ता है तथा जीवन भर की सैनिक-वृत्ति छोड़कर लकड़ियों का टाल खोलने जैसा कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार वे वर्ण और आश्रम दोनों ओर से पतित होते हैं, क्योंकि उन बूढ़ों और छोटे बच्चों को पिण्ड तथा उदक अर्थात् अन्न और जल देने वाला कोई नहीं रहता। यहाँ आपने गीता के पिण्डदान के समर्थक श्लोकों की व्याख्या पण्डित जी द्वारा की हुई पढ़ी।

अब गीता के वे गूढ़-स्थल, जिनकी कि पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने तथा परवर्त्ती हिन्दी के गीता व्याख्याकारों ने व्याख्या की है, वह अनावश्यक, अतिविस्तृत, खींचातानी से परिपूर्ण तथा अप्रासंगिक है। उसकी व्याख्या पण्डित जी के द्वारा लिखी हुई देखें-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। ४.१७

मनुष्य को कर्म का भी ज्ञान प्राप्त करना है। जैसे- क्षत्रिय का धर्म है आततायी को मारना, यह कर्म का ज्ञान है। विकर्म को भी जानना है, जैसे- कोई पागल आततायी हो जाये, तो उसको बाँधना तथा चिकित्सा

करनी, किन्तु प्राण दण्ड नहीं देना, किन्तु यदि भूल से उसे प्राण दण्ड दे दिया तो यह विकर्म हुआ। इस विकर्म अर्थात् विपरीत कर्म का भी ज्ञान होना चाहिए। फिर अकर्म का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई आलस्यवश अकर्मण्य होकर पड़ रहा है, तो यह अनुचित अकर्मण्यता है, किन्तु यदि कोई मनुष्य क्षमा करने से सुधर सकता हो, तो उसे दण्ड न देना शुभ अकर्मण्यता है। इसका ज्ञान अकर्म का ज्ञान है। कर्म, अकर्म तथा विकर्म इन तीनों का ज्ञान ठीक-ठीक होना चाहिए। इस प्रकार कर्म, अकर्म तथा विकर्म तीनों का यथार्थ ज्ञान होने से कल्याण होता है। इस कर्म की गति का ठीक ज्ञान होना बड़ा कठिन है। इसलिए कहा **'गहना कर्मणो गतिः'**।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

हर शुभ कर्म किसी अवस्था-विशेष में अशुभ कर्म हो जाता है। उदाहरणार्थ- यदि कोई सिपाही राष्ट्र के किसी दुर्ग की अथवा नाके की रक्षार्थ पहरा दे रहा हो, तो उस समय संध्योपासन की वेला प्राप्त होने पर सिपाही का संध्योपासन में लीन हो जाना घोर अशुभ है, सो इस कर्म में कब अकर्मता आ गई, यह जो जानता है तथा अकर्म में कर्म को जानता है, जैसे शत्रु अपनी रक्षा के लिए गौवें आगे करके राष्ट्र का नाश करने आवे, तो उस समय गोहत्या अशुभ-कर्म में कर्त्तव्य अर्थात् शुभ-कर्मत्व आ जाता है। जैसे- अर्जुन के लिए अन्याय का पक्ष लेकर सामने आए गुरु तथा पितामह का वध अकर्म में कर्म हुआ। जो इस तत्त्व को देख ले, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् मनुष्य है। उसे ही युक्तियुक्त मनुष्य समझना और वह पूर्ण कार्य करता है, क्योंकि उसने कर्म के पूरे रूप को- उत्सर्गापवाद दोनों को जान लिया।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितः बुधाः।।

हे अर्जुन! मनुष्य को कर्म से अकर्म में तथा अकर्म से कर्म में आसक्ति घसीट ले जाती है। राष्ट्र पर शत्रुओं के आक्रमण होने पर शत्रु की ढाल बनी हुई गौवों को मारना यद्यपि देखने में अकर्म है, किन्तु वास्तव में भविष्य में आने वाले लाखों गो-भक्तों और गौवों के वध को बचाने का साधन होने के कारण वह प्रत्यक्ष अकर्म गोवध वास्तव में कर्म है, किन्तु यह बात गोरक्षा में आसक्त होने वाले को नहीं सूझती। इसलिए जिस मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यारम्भ काम संकल्प अर्थात् व्यक्तिगत सुख-दुःख की कामना के संकल्प से वर्जित होते हैं, उसे यह यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि जो कर्त्तव्य दीखता है, वह कब परित्याज्य है? और जो कर्म अकर्त्तव्य दीखता है, वह कब किन अवस्थाओं में ग्राह्य है? इसलिए उसके कर्मों में फलाशक्ति का अंश यथार्थ-ज्ञानरूपी अग्नि से जलकर भस्म हो जाता है। और वह हर कर्म को विवेक युक्त सीमा तक करता है। इस प्रकार के ज्ञानाग्निदग्ध-कर्मा मनुष्य को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं।

कुछ और विवादास्पद श्लोकों के भी अर्थ जिसका वैदिक भाष्य पूज्य पण्डित जी ने किया है, इसका भी एक निदर्शन स्वरूप लीजिए-

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।

जिस प्रकार सृष्टि तथा प्रलय को ब्रह्म-दिन तथा ब्रह्म-रात्रि का नाम दिया है इसी प्रकार मनुष्य जीवन को एक वर्ष मान लें, तो यौवन तक उसका शुक्ल-पक्ष है तथा वृद्धावस्था के आरम्भ से रात्रि है तथा मृत्यु अमावस्या है। इसी प्रकार जब उसके हृदय में प्रभु का प्रेम तथा ज्ञान का प्रकाश हो, वीर्य की ज्ञानाग्नि में आहुति होती हो, वह दिन है तथा जब उसकी कामेच्छा अथवा शयनेच्छा जागती हो, वह रात्रि है। जीवन भर जितना समय उसने उन्नति की ओर जागने में लगाया हो, वह उसका उत्+तर+अयन है तथा जब वह नानाविध भोगादि समृद्धि की ओर जाता हो, वह सकाम जीवन का काल दक्षिणायन है। हो सकता है बहुत से मनुष्यों

में उत्तरायण कभी आता ही न हो, परन्तु ये दो परिभाषाएँ हैं, इन्हें समझने पर ही यह श्लोक समझ में आएगा। अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को उठती है। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व अथवा अन्य भी कोई लोक-कल्याणकारी व्रत मनुष्य ने अपने जीवन में लिया है, वह उसे परमात्मा से मिलाता है तथा उसके वीर्य की रक्षा करता है। इस प्रकार वीर्य (स्थूल शरीर का सूर्य), ज्ञान (सूक्ष्म शरीर का सूर्य) तथा परमात्मा (सारे ब्रह्माण्ड का सूर्य) इन तीनों की ओर ले जाने वाली आग जब किसी के हृदय में दहक रही हो, वह अग्निज्योति का काल है। उसके अन्दर जब ज्ञान का प्रकाश हो, वह दिन का समय है। युवावस्था वाली स्वास्थ्य-सम्पत्ति हो (चाहे आयु कुछ भी हो) वह शुक्ल पक्ष है। मन में ऊँचे से ऊँचा और अधिक ऊँचा उठने का दृढ़ संकल्प हो वह उत्तरायण काल है। इस काल में मृत्यु को प्राप्त हुए ब्रह्मवित् जन ब्रह्म के पास उठने का दृढ़ संकल्प हो वह उत्तरायण काल है। इस काल में मृत्यु को प्राप्त हुए ब्रह्मवित् जन ब्रह्म के पास जाते हैं। दूसरी ओर धुँआ यद्यपि आग की गर्मी तथा वायु के वेग से ऊपर उठता है तथापि शनैः शनैः नीचे आकर किसी वस्तु पर जम जाता है। इस प्रकार आलस्यमयी तमोवृत्ति, आराम-पसन्द मनोवृत्ति जो धक्का देने से बड़ी कठिनता से ऊपर उठे, वह धूम है। ऐसी धूमिल ज्योति हो, अज्ञान की रात्रि हो, वृद्धावस्था की चेष्टाहीनता हो (चाहे आयु यौन की ही हो) अर्थात् कृष्ण पक्ष हो तथा नाना काम-भोग रूप समृद्धि की अभिलाषा बनी हो, वह दक्षिणायन है, उसके लिए कहा-

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।

धूमिल ज्योति हो, रात्रि की वेला हो अर्थात् तमोगुण का प्राबल्य हो, कृष्णपक्ष अर्थात् मन्दस्वास्थ्य का बुढ़ापा हो, तो सूर्यज्योति नहीं किन्तु चन्द्र-ज्योति प्राप्त हुई। उनकी प्रभु-भक्ति चन्द्रमा के समान कीर्ति, धन आदि अथवा सन्तान की कामना से प्रकाशित है। इसलिए इस दक्षिणायन काल में मृत्यु को प्राप्त योगी फिर कर्त्तव्यपालन से विमुख होकर बारम्बार फिर-फिर साधना करने के लिए विवश होता है (पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। ६.४४) यह आवृत्ति-मार्ग है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।

हे कृष्ण! योगविद्या से आत्मा को बहुत विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। वे दिव्य हैं अर्थात् देवाधिदेव भगवान् के चिन्तन से प्राप्त होती हैं। आप कहते हैं कि मैंने भी वहीं से पाई हैं। आप पूर्ण योगी हैं, अपनी योग-विभूति के बल से जिस लोक-लोकान्तर का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तुरन्त वहाँ पहुँचकर जान लेते हैं। उन विभूतियों के भण्डार भगवान् का साक्षात् करने से ही वे विभूतियाँ आपको प्राप्त हुई हैं। सो जिन विभूतियों से वह विश्वव्यापी ज्ञान आपको प्राप्त हुआ है जिससे आप जिस लोक-लोकान्तर में पहुँचना चाहें पहुँच जाते हैं, उनका वर्णन पूर्ण रूप से मुझे भी करके बताइये।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।

हे कुरुश्रेष्ठ! यह तुमने सच कहा- आत्मा को जो विभूति मिलती है, वह दिव्य होती है अर्थात् देवाधिदेव भगवान् की कृपा से मिलती है। पर यह तो देखो कि उस प्रभु की विभूतियों का तो अन्त ही नहीं, प्रभु की विभूतियों का तो कहना ही क्या! मैंने उस देवाधिदेव से जो विभूतियाँ पाई हैं, उनका विस्तार करने लगूँ तो उनका ही अन्त नहीं। इसलिए वह प्रभु मुझे क्या उपदेश करता है? मैं उसे किन विभूतियों में देखता हूँ? यह उसके बड़े-बड़े प्रधान गुणों के आधार पर तुझे सुनाता हूँ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।
१८.६६

हे अर्जुन! तुझे यह सन्देह कैसे हो गया कि मैं तुझे

शेष पृष्ठ २७ पर

देश को आजाद कराने की प्रेरणा ऋषि दयानन्द ने की थी

(मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून, मो0ः-09412985121)

भारत संसार का सबसे प्राचीन देश है। इसका मुख्य प्राचीन धर्म वैदिकधर्म है जो ईश्वर ज्ञान वेद पर आधारित होने सहित विगत कुछ शताब्दियों से नहीं अपितु पूरे १,९६,०८,५३,११९ वर्षों से आज देश व संसार में जितने मत-मतान्तर हैं, वह सब वैदिक मत के ही रूपान्तर हैं। इसका कारण हजारों वर्ष पहले भारत से ही विद्या, ज्ञान व संस्कृति विश्व के अन्य देशों में गई थी जो समय के साथ परिवर्तित होती रही। यह बात ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में प्रमाण सहित प्रस्तुत की है। यह भी ज्ञातव्य है कि संसार में मनुष्यों की प्रथम अमैथुनी उत्पत्ति तिब्बत में ही हुई थी। जब यह उत्पत्ति हुई, उस समय संसार में कोई देश नहीं था और न कहीं मनुष्य रहते थे। अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को परमात्मा ने यह सारी पृथिवी अपने निवास व वेदों के अनुसार ज्ञान प्राप्ति, ईश्वरोपासना, सुशासन आदि करने के लिए दी थी। ऋषि दयानन्द के अनुसार सृष्टि के आदि काल से महाभारत काल तक समस्त पृथिवी पर आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा है। इनमें से कुछ राजाओं के नाम भी ऋषि दयानन्द ने महाभारत इतिहास ग्रन्थ से लेकर अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में दिये हैं। महाभारत का विनाशकारी युद्ध होने के बाद भारत में ज्ञान का सूर्य अस्त हो गया और विश्व के सभी देशों में भी वेदों का ज्ञान अप्रचलित हो गया। मनुस्मृति ग्रन्थ के एक प्रसिद्ध श्लोक

'एतद्देशस्य प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।'

में यह कहा गया है कि यह देश ही अग्रजन्मा मनुष्यों को उत्पन्न करने वाला है। संसार के सभी लोग उज्ज्वल चरित्र, ज्ञान, विद्या व विज्ञान आदि की शिक्षा लेने के लिए इसी देश में आते थे। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि भारत में १.९६ अरब वर्ष पूर्व वेद, लगभग इतने वर्ष ही पुराने ४ ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुस्मृति, अनेक उपनिषदें, ६ दर्शन ग्रन्थ, सुश्रुत व चरक आदि ग्रन्थ सहित ज्योतिष, वेद के व्याकरण ग्रन्थ एवं संस्कृत में लिखी हुई सहस्रों प्राचीन पाण्डुलिपियाँ आज भी अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थ में यह बताया गया है कि जैनियों, यवनों व अंग्रेजों ने भारत के प्राचीन अनेक पुस्तकालयों वा प्राचीन साहित्य को नष्ट किया है। इन प्रमाणों व युक्तियों से भारत की प्राचीनता और ज्ञान सम्पन्नता सिद्ध होती है।

महाभारत के बाद देश में अव्यवस्था फैल गई और अविद्या का अन्धकार धीरे-धीरे बढ़ता गया जिसका परिणाम अवैदिक मतों की उत्पत्ति और अज्ञानता व अन्धविश्वासों सहित सामाजिक कुप्रथाओं के प्रचलन के रूप में सामने आया। महाभारत के बाद ही जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम आदि अनेक मत अस्तित्व में आये। इन मतों ने अपनी संख्या बढ़ाने के लिए मतान्तरण वा धर्मान्तरण के सभी सम्भव व असम्भव तरीकों को अपनाया जिसका परिणाम हुआ कि इन मतों की संख्या बढ़ती गई। भारत जो २५०० वर्ष पूर्व तक एकमात्र वैदिक मत को मानने वाला देश था वह विगत लम्बे समय से अनेक विभाजन व खण्डित होने के बाद भी निरन्तर वैदिकधर्मियों की जनसंख्या की दृष्टि से क्षय को प्राप्त होता गया। समाज में दिनोंदिन अज्ञान व अन्धविश्वास और इनसे उत्पन्न होने वाली सामाजिक कुप्रथाएं बढ़ रही थीं। वही देश लगभग १२०० वर्षों से गुलाम व पराधीन बन गया था। ऐसे समय में ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में ऋषि दयानन्द (१८२५-१८८३) का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने योग में प्रवीणता प्राप्त करने के साथ वेद विद्या में उच्च स्तर की योग्यता प्राप्त की जो

महाभारत काल के बाद देश व विदेश में किसी ने प्राप्त नहीं की थी। अब तक भी उन जैसा योगी व वेदविद्या-सम्पन्न विद्वान् पुरुष देश-विदेश में कहीं उत्पन्न नहीं हुआ। स्वामी जी ने देश वा विश्व से अविद्या दूर करने के लिए वेद की प्राणीमात्र के लिए कल्याण करने वाली शिक्षाओं व ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया। वह सारे देश में जाकर प्रवचन, उपदेश, व्याख्यान, शास्त्रार्थ, चर्चायें, शंका समाधान आदि किया करते थे। उन्होंने अपने वैदिक विचारों व सिद्धान्तों की रक्षा के लिए सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ के लेखन सहित वेदों का भाष्य, संस्कारविधि तथा आर्याभिविनय जैसे उच्च कोटि के अनेक ग्रन्थ लिखे। अंग्रेजों के शासन में गोरक्षा और हिन्दी प्रचार के आन्दोलन भी चलाये। ऐसे आन्दोलन भारत में इससे पूर्व आयोजित नहीं हुए थे। ऋषि दयानन्द ने संस्कृत भाषा सहित वैदिक संस्कृति का उद्धार किया। सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए उन्होंने व उनके अनुयायियों ने जो कार्य किया, वह विश्व के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में लिखे जाने योग्य है। स्वामी जी वेदों की शिक्षाओं का प्रचार करते थे जो यह मानता है कि संसार के सभी मनुष्यों व प्राणी एक ईश्वर जो सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अनादि, अमर, अजर, अभय व सृष्टिकर्ता है, उनकी सन्तान हैं यदि कोई व्यक्ति इस सिद्धान्त को नहीं मानता तो इसका तात्पर्य है कि वह अज्ञ व अज्ञानी है। बिना वेदों का अध्ययन किये मनुष्य पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकता। ईश्वर, जीव व सृष्टि के यथार्थ ज्ञान सहित सुखी जीवन व परलोक की उन्नति का आधार भी वैदिक ज्ञान व उसके अनुरूप आचरण ही है।

देश को आजाद कराने की प्रेरणा सर्वप्रथम किसने की? इसका उत्तर है कि सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द ने देश के लोगों को स्वदेशीय राज्य की सर्वोपरि उत्तमता का सन्देश दिया था। उन्होंने यह भी कहा था कि विदेशियों के राज्य की अनेक विशेषताओं के होने पर भी वह पूर्ण सुखदायक नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा **'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।'** यही वाक्य अंग्रेजों से भारत को आजाद कराने का आधार बने थे। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश का यह संस्करण सन् १८८३ में अपनी मृत्यु से काफी समय पूर्व लिख दिया था। जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया, उस समय तक कांग्रेस व किसी अन्य राजनैतिक संगठन का उदय भी नहीं हुआ था। कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में एक अंग्रेज व्यक्ति श्री ए.ओ.ह्यूम ने की थी। उसका उद्देश्य देश को अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त कराना नहीं था, अपितु उनसे देशवासियों को कुछ थोड़े से अधिकार व सुविधायें प्राप्त कराना था। ऋषि दयानन्द के समय में जितने सामाजिक व मत-मतान्तरों के संगठन थे, वह भी सब अंग्रेजी राज्य से सन्तुष्ट प्रतीत होते थे। ब्रह्मसमाज के नेता भी अंग्रेजी राज्य को अच्छा व देश के लिए वरदान मानते थे। ऋषि ने केवल आठवें समुल्लास में ही नहीं, अपितु ग्यारहवें समुल्लास में भी गुजरात के द्वारिका में गुजराती बाघेर लोगों और अंग्रेजों के मध्य हुए युद्ध में बाघेर लोगों की वीरता की प्रशंसा की और कहा कि यदि श्रीकृष्ण जी जैसा कोई वीर व पराक्रमी नेता होता, तो अंग्रेजों के धुर्रे उड़ा देता और यह लोग भागते फिरते अर्थात् देश छोड़ कर चले जाते। स्वामी दयानन्द जी के अपने शब्द हैं- **'जब संवत् १९१४ (सन् १८५७) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर की मूर्तियाँ अंगरेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति (की शक्ति) कहाँ गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके (अंग्रेजों के) धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो**

कि जिस का रक्षक मार खाय उस के शरणागत क्यों न पीटे जायें?'

स्वामी दयानन्द जी ने अपने वेद भाष्य, आर्याभिविनय और सत्यार्थप्रकाश आदि सभी गन्थों में अनेक स्थानों पर स्वदेशी राज्य की महत्ता को रेखांकित करते हुए ईश्वर से भी स्वराज्य की कामना की है। ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज और उसके अनुयायियों का भी देश की आजादी के लिए किये गये गरम व नरम दल के सभी आन्दोलनों में प्रमुख सक्रिय योगदान रहा है। अनेक ऋषि भक्त आर्यसमाजियों को सरकारी नौकरियों से पृथक् किया गया, आर्यसमाज को सील किया गया व उनके उत्पीड़न के कार्य किये गये परन्तु किसी ने उफ भी न की। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, भाई परमानन्द, स्वामी रामेश्वरानन्द, डॉ. सत्यप्रकाश जी, कुंवर सुखलाल आर्य मुसाफिर सहित पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा, पं. रामप्रसाद बिस्मिल का आजादी के आन्दोलन में अग्रणीय व प्रमुख योगदान है। शहीद भगत सिंह जी का पूरा परिवार भी आर्यसमाजी परिवार था। बताते हैं कि इतिहास में यह बात अंकित है कि प्रायः सभी आर्यसमाजी व ऋषि भक्त देश की आजादी के आन्दोलन में किसी न किसी रूप में जुडे रहे। आजाद हिन्द फौज के स्तम्भ और नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के निकटतम कर्नल प्रेम कुमार सहगल और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी सहगल आर्यसमाजी ही थे।

निश्चय ही ऋषि दयानन्द देश की आजादी के प्रेरक थे और उन्होंने वेदों का पुनरुद्धार, समाज सुधार, अन्धविश्वासों का खण्डन सहित अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि के लिए जो कार्य किया, उसका उद्देश्य देश को शक्तिशाली बनाना था। देश ने आर्यसमाज के साथ न्याय नहीं किया। आर्यसमाज ने देश व मानवजाति की उन्नति के जो उपाय बताये थे, उन्हें जाने-अनजाने दृष्टि से ओझल किया गया। यदि ऋषि दयानन्द की विचारधारा को पूर्ण रूप में अपना लिया जाता, तो देश आज विश्व का सर्वाधिक सशक्त देश हो सकता था। ऋषि दयानन्द की देश को अनेक देन हैं। आने वाले समय में आशा की जा सकती है कि देश की नई पीढ़ी आर्यसमाज की मानवमात्र की हितकारी तथा सत्य पर आधारित सार्वभौमिक विचारधारा को अपनायेगी जिससे विश्व में शान्ति, उन्नति व समृद्धि का नया यग लाने में सहायता मिलेगी। ओ३म् शम्।

❑❑

पृष्ठ २४ का शेष

पाप करने की सलाह भी दे सकता हूँ, पाप करने की सलाह देने की बात तो दूर रही, तू निश्चय रख कि तेरे हृदय में कोई पाप वासना उठती होगी, तो उसे भी मैं उभरने नहीं दूँगा। इसलिये तेरी तो मैं भक्त और सखा होने के कारण व्यक्तिगत रूप से जिम्मेवारी लेता हूँ, तू और सब धर्म छोड़कर एक ही धर्म पकड़ ले कि मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे सब प्रकार के पाप भावों से (पाप फलों से नहीं) छुड़ा दूँगा। तू दुःख मत मान।

इस प्रकार से गीता के आर्यसमाजी होने का प्रमाण स्वामी समर्पणानन्द जी के भाष्य से परिलक्षित होता है। विशेषरूप से तो हमारे जिज्ञासु पाठक उनके भाष्य से ही अपनी जिज्ञासा का शमन करने में समर्थ होंगे। मैंने तो उनके १२३वें जन्मदिवस पर एक स्थाली- पुलाक-न्यायेन परिचयमात्र प्रदान किया है। उनका शतपथ का भाष्य प्रथम-द्वितीय-तृतीय काण्ड तथा उसकी भूमिका के रूप में शतपथ में एक पथ व अद्भुत कुमारसम्भव आदि रचनाएँ प्राचीन ऋषियों के वेदव्याख्या के मर्म को उद्घाटित करती हैं। इस अवसर पर हम ऋषि दयानन्द के भाष्यों के कवचरूप में उनके पञ्चयज्ञप्रकाश, गीताभाष्य, शतपथ-ब्राह्मणभाष्य, ऋग्वेदमण्डलमणिसूत्र एवं कायाकल्प आदि ग्रन्थों का अध्ययन, मनन, चिन्तन करें तो वैदिक साहित्य को समझने में वैदिक आलोक का कार्य करेंगे।

❑❑

आर./आर. नं० १६३३०/६७
Post in Delhi R.M.S
०५-११/०६/२०१८
भार- ४० ग्राम

सितम्बर 2018

रजिस्टर्ड नं० DL (DG -11)/8029/2018-20
लाईसेन्स नं० यू (डी०एन०) १४४/२०१८-२०
Licenced to post without prepayment
Licence No. U (DN) 144/2018-20

पाठकों से निवेदन

१. अपने पत्रों में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य ही लिखा करें, अन्यथा कार्यवाही सम्भव नहीं होगी।
२. १५ तारीख तक प्रतीक्षा करके ही दुबारा अंक मँगाएं, यदि अंक न पहुँचा हो।
३. यदि आप अपना पता बदलवायें तो यह ध्यान रखें कि बदले हुए पते पर अंक-प्रेषण एक माह बाद आरम्भ होगा।
४. अंक के रेपर पर अपना पता चैक कर लिया करें। यदि कोई त्रुटि हो, तो सूचना दे दिया करें।
५. जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त है, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

दिनेश कुमार शास्त्री
कार्यालय व्यवस्थापक
मो०-९६५०५२२७७८

ओ३म्

भारत में फैले सम्प्रदायों की निष्पक्ष व तार्किक समीक्षा के लिए उत्तम कागज़, मनमोहक जिल्द, सुन्दर आकर्षक छपाई एवं (द्वितीय संस्करण से मिलान कर शुद्ध प्रामाणिक संस्करण)

सत्य के प्रचारार्थ

सत्यार्थ प्रकाश

सत्य के प्रचारार्थ

● प्रचार संस्करण (अजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 50 रु.	प्रचारार्थ 30 रु.	प्रचारार्थ मूल्य पर कोई कमीशन नहीं
● विशेष संस्करण (सजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 80 रु.	प्रचारार्थ 50 रु.	
● स्थूलाक्षर सजिल्द 20×30÷8	मुद्रित मूल्य 150 रु.		प्रत्येक प्रति पर 20% कमीशन

10 या 10 से अधिक प्रतियाँ लेने पर विशेष अतिरिक्त कमीशन

कृपया, एक बार सेवा का अवसर अवश्य दें और महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार में सहभागी बनें

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
427, मन्दिर वाली गली, खारी बावली, दिल्ली-6
Ph. :011-43781191, 09650622778
E-mail : aspt.india@gmail.com

छपी पुस्तक/पत्रिका

श्री सेवा में.....
ग्राम.....
डा० .....
जिला.....

मुद्रक, प्रकाशक व सम्पादक धर्मपाल आर्य, स्वामित्व आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४२७, गली मन्दिर वाली, नया बांस, खारी बावली, दिल्ली-११०००६ से प्रकाशित एवं तिलक प्रिंटिंग प्रेस, २०४६, बाजार सीता राम, दिल्ली-११०००६ से मुद्रित।